2-1

संस्कृत-साहित्य-सुधा

प्रधान सम्पादकः

डॉ मण्डन मिश्रः, निदेशकः

सम्पादकः

पं० श्री संपन्नारायणाचार्यः

न्यायमीमांसा, वेदान्त विद्वान्

उपनिदेशकः

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थानम्

ए-40, विशाल इन्क्लेव, राजा गार्डन

नई दिल्ली-27

प्रकाशक:

डा. मण्डन मिश्र:, निदेशक:

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
ए-४०, विशाल इन्क्लेव, राजा गार्डन
नई दिल्ली-२७

मुद्रक:

अमर प्रिंटिंग प्रेस
८/२५, विजय नगर, दिल्ली-९

प्रस्तावना

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (नई दिल्ली), संस्कृत के प्रचार प्रसार और परम्परागत पाण्डित्य के योगक्षेम के लिए अनेक प्रकार के कार्यक्रमों को योजनाबद्ध रूप से चलाता आ रहा है। उनमें से एक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों का प्रकाशन है।

संस्थान ने यह अनुभव किया कि नवम कक्षा से लेकर बी० ए० तक की कक्षाओं में पढ़ने वाले छात्रों को कुछ ऐसी सामग्री दी जाय, जिससे उनमें संस्कृत-वाङ्मय पढ़ने की योग्यता का विकास हो, संस्कृत साहित्य के अध्ययन की स्वतः प्रवृत्ति जागृत हो, उनकी अभिरुचि बढ़े, वे अपनी संस्कृति और सभ्यता को जान सकें तथा विशाल संस्कृत साहित्य में वर्णित जीवन मूल्यों को सरलता से जानकर अपने आपमें स्वेच्छा से स्थान दे सकें। वे इस ज्ञाननिधि में संचित रत्नों से अपने आपको विभूषित करते हुए अपने को सही मानव बना सकें। संस्कृत वाङ्मय में देश की एकता और अखण्डता को परिपुष्ट करने वाली भावनाओं के आख्यान भरे पड़े हैं, उनसे बालकों और युवकों को परिचित कराना समय की पुकार है।

कुछ प्रौढ़ और वृद्ध व्यक्ति भी जो विज्ञान गणित आदि में पारंगत और विख्यात रहे हैं, अपने संस्कार से प्रेरित होकर इतना संस्कृत जानना चाहते हैं, जिससे वे गीता, रामायण, उपनिषद् आदि ग्रन्थों का स्वयं पाठ या पारायण कर सकें। अतः आवश्यक है कि पुस्तक व्याकरण की क्लिष्टता से रहित हों तथा प्रयोग के द्वारा भाषा ज्ञान के लिए एक सशक्त माध्यम हो सके।

तथाकथित भावनाओं और विचारों को मूर्त रूप देने के लिए मानव संसाधन विकास मन्त्रालय के विशेषसचिव श्री किरीट जोशी की अध्यक्षता

में की गयी विचार-गोष्ठी में जिस प्रकार की पुस्तक शृङ्खला के निर्माण का निर्णय किया गया, उसकी यह पहली कड़ी पाठकों के हाथों में देते हुए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है।

इस पुस्तक शृङ्खला में सम्बद्ध पाठकों के बौद्धिक स्तर, मानसिक अभिरुचि भाषा तथा शैली ज्ञान के तारतम्य को ध्यान में रखकर पाठों का निर्माण तथा संकलन किया गया है तथा उम्र के अनुकूल सामग्री दी गयी है। उत्तरोत्तर भाषाज्ञान में जो संभावित वृद्धि हुई होगी, उसको ध्यान में रखकर द्वितीय, तृतीय आदि पुस्तकें लिखी गयी हैं। इस तरह इन पुस्तकों की रचना सोपानों की तरह की गयी है जो संस्कृत भाषा की अट्टालिका तथा संस्कृत वाङ्मय के प्रासाद पर चढ़ने की चाह रखने वालों को मञ्जिल तक पहुँचाने में आवश्यक सहायक होगी। इसके सहारे सरलता से अपने उद्देश्य तक पाठक पहुँच जायेंगे, इसमें सन्देह नहीं। मूल संस्कृत पाठों का हिन्दी और इंग्लिश अनुवाद भी साथ-साथ इसलिए दिया गया है कि इनके द्वारा कठिनाई को आसानी से आसान बनाया जा सके।

इस शृङ्खला में निम्नलिखित प्रकाशन सम्पन्न होने वाले हैं—

(१) गद्य-पद्य संकलन

(२) रामायण और महाभारत से संकलन

(३) वेदों से उपयुक्त सूक्तों का संकलन।

इस प्रयास को पाठक अवश्य सराहेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

इस कार्य में महर्षि एकेडमी ऑफ वैदिक साइंस, अहमदाबाद का महान् सहयोग मिला है और आगे भी मिलता रहेगा। अतः यह संस्था और उसके सहयोगी हमारे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली

डा० मण्डन मिश्रः
निदेशक

विषय-सूची

प्रथमो भागः (पद्य मन्दाकिनी)

1. ब्राह्मण किसे कहा जाए 1
2. वाली को तारा का हितपरिणामी वचन 11
3. परिव्रज्या के लिए सिद्धार्थ की मनोकामना 19
4. मनीषापञ्चक 25
5. चारुचर्या 31
6. अन्योक्तिकलाप 41
7. भारत-भू-मातृस्तोत्रम् 51

द्वितीयो भागः (गद्यमन्दाकिनी)

8. सुबुद्धि की कहानी 61
9. सचमुच सत्पुरुषों की बुद्धि भी दुर्जनों के कहने पर संदेह में पड़ जाती है 67
10. परस्पर विवाद करने वाले शत्रु भी हमारा हित करते हैं 73
11. अपनी मर्यादा के कारण ही सत्पुरुष आचरण की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते 77
12. पिता की मृत्यु पर श्रीहर्ष का शोक 89
13. अनर्थ की परम्परा 93
14. चन्द्रापीड को शुकनास का उपदेश 101

तृतीयो भागः (नाटक मन्दाकिनी)

15. प्रतिमागृह में भरत 107
16. उदयन का स्वप्न 115
17. गणदास और हरदत्त का विवाद 121
18. चन्दनदास 129

प्रथमो भागः

पद्य मन्दाकिनी

ब्राह्मण किसे कहा जाए ।

महाभारतकार कृष्ण द्वपायन व्यास ने महाभारत में समकालीन समाज एवं संस्कृति का हृदयंगम चित्रण किया है। प्रस्तुत पद्यांश में व्यास जी ने यह बताया है कि सच्चरित्र की मूल्यवत्ता कुल से अधिक है। प्रस्तुत भाग महाभारत (भाण्डारकर इन्स्टीट्यूट की चिकित्सित आवृत्ति) के अरण्यपर्वान्तर्गत आजगरपर्व के अध्याय १७५, १७६, १७७ से चुना गया है।

पाण्डव जब वनवास में थे तब कदाचित् भीमसेन किसी एक सरोवर पर पहुंचा। यहाँ एक बड़े अजगर ने उसे पकड़ लिया और वह उसे निगलने लगा। भीम ने सर्प से प्रार्थना की कि वह उसे छोड़ दे। अजगर ने अपना परिचय बताया कि वह पाण्डवों का पूर्व पुरुष नहुष था। साथ-साथ उसने भीम की मुक्ति का उपाय भी बताया। संयोगवश युधिष्ठिर भीम की तलाश में वहाँ पहुंचे। अजगर भीम को मुक्त करे उस शर्तपर युधिष्ठिर अजगर के प्रश्नों का उत्तर देने को सहमत हुए। अजगर ने एक प्रश्न किया कि सच्चा ब्राह्मण किसे कहा जाय। युधिष्ठिर ने उत्तर में कहा कि जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं बनता। सच्चरित्र से ही कोई सच्चा ब्राह्मण बनता है। सत्य आदि गुणों से ही ब्राह्मणत्त्व प्राप्त होता है। ऊंचे कुल में जन्म लेने से नहीं। इस समय इस विचार की उपादेयता है।

ब्राह्मणः को भवेत् ।

यदृच्छया धनुष्पाणिर्बद्धखड्गो वृकोदरः ।
ददर्श तद्वनं रम्यं देवगन्धर्वसेवितम् । १ ।

स ददर्श महाकायं भुजङ्गं लोमहर्षणम् ।
गिरिदुर्गे समापन्नं कायेनावृत्य कन्दरम् । २ ।

स भीमं सहसाभ्येत्य पृदाकुः क्षुधितो भृशम् ।
जग्राहाजगरो ग्राहो भुजयोरुभयोर्बलात् । ३ ।

स तेजस्वी तथा तेन भुजगेन वशीकृतः ।
विस्फुरञ्छनकैर्भीमो न शशाक विचेष्टितुम् । ४ ।

उवाच च महासर्प कामया ब्रूहि पन्नग ।
कस्त्वं भो भुजगश्रेष्ठ किं मया च करिष्यसि । ५ ।

नहुष उवाच

नहुषो नाम राजर्षिर्व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः ।
तवैव पूर्वः पूर्वेषामायोर्वंशकरः सुतः । ६ ।

सोऽहं शापादगस्त्यस्य ब्राह्मणानवमन्य च ।
इमामवस्थामापन्नः पश्य दैवमिदं मम । ७ ।

न हि मे मुच्यते कश्चित्कथञ्चिद् ग्रहणं गतः ।
गजो वा महिषो वापि षष्ठे काले नरोत्तम । ८ ।

पतता हि विमानाग्रान्मया शक्रासनाद् द्रुतम् ।
कुरु शापान्तमित्युक्तो भगवान् मुनिसत्तमः । ९ ।

ब्राह्मण किसे कहा जाय ?

१ एक समय धनुष लिये, खड्ग बाँधे भीम ने अकस्मात् वह सुन्दर वन देखा जिसका देव और गन्धर्व सेवन करते थे।

२ वहां पर्वत के बीहड़ स्थान में अपने (विशाल) शरीर से पूरी पर्वत गुहा को घेरे हुए, विराट काया वाले भयानक सर्प (अजगर) को उसने देखा।

३ प्राणियों को पकड़ने वाले, बकरे (जैसे जानवर) को भी निगल वाले उस भूखे सांप ने एकदम आकर भीम के हाथों को पकड़ लिया

४ इस प्रकार उस सांप के द्वारा जकड़ा हुआ भीम बहुत बलवान होने पर तथा कोशिश करने पर भी उससे अपने आपको छुड़ा न सका।

५ उस (भीम) ने महासर्प को, हे सर्प मेरे खातिर बताओ कि तुम कौन हो ? और मुझे (पकड़कर) क्या करोगे ?

नहुष (अजगर) ने कहा

६ नहुष नामक राजर्षि का नाम तुमने अवश्य सुना होगा। तुम्हारे पूर्वजों में वह प्रथम था और राजा आयु का वंश बढ़ाने वाला पुत्र था।

७ वही मैं (नहुष) ब्राह्मणों का तिरस्कार करने के कारण अगस्त्य के शाप से इस स्थिति में आ पड़ा हूं। देखो यह मेरा दुर्भाग्य।

८ हे मनुष्यश्रेष्ठ, दिवस के छठे भाग में (संध्या के समय) मेरी पकड़ में आया हुआ हाथी या भैंसा कोई भी मुझसे छुटकारा नहीं पा सकता।

९ इन्द्र के ऊँचे आसन से वेशपूर्वक गिरते हुए मैंने ऋषिवर भगवान् अगस्त्य मुनि को कहा, मेरे शाप का अन्त कर दो।

स मामुवाच तेजस्वी कृपयाभिपरिप्लुतः ।
मोक्षस्ते भविता राजन् कस्माच्चित्कालपर्ययात् । १० ।

यस्तु ते व्याहृतान् प्रश्नान् प्रतिब्रूयाद्विशेषवित्
स त्वां मोक्षयिता शापादिति मामब्रवीदृषिः । ११ ।

युधिष्ठिरस्तु कौन्तेयो बभूवास्वस्थचेतनः ।
अनिष्टदर्शनान्घोरानुत्पातान्परिचिन्तयन् । १२ ।

स धर्मराजो मेधावी शङ्कमानो महद्भयम् । १३ ।

युधिष्ठिरस्तमासाद्य सर्पभोगाभिवेष्टितम् ।
दयितं भ्रातरं वीरमिदं वचनमब्रवीत् । १४ ।

कुन्तीमातः कथमिमामापदं त्वमवाप्तवान् । १५ ।

स धर्मराजमालक्ष्य भ्राता भ्रातरमग्रजम् ।
कथयामास तत्सर्वं ग्रहणादिविचेष्टितम् । १६ ।

युधिष्ठिर उवाच

किमाहृत्य विदित्वा वा प्रीतिस्ते स्याद्भुजंगम ।
किमाहारं प्रयच्छामि कथं मुञ्चेद्भवानिमम् । १७ ।

सर्प उवाच

प्रश्नानुच्चारितांस्तु त्वं व्याहरिष्यसि चेन्मम ।
अथ पश्चाद्विमोक्ष्यामि भ्रातरं ते वृकोदरम् । १८ ।

ब्राह्मणः को भवेद्राजन्वेद्यं किं च युधिष्ठिर ।
ब्रवीह्यतिमतिं त्वां हि वाक्यैरनुमिमीमहे । १९ ।

युधिष्ठिर उवाच

सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं दमो घृणा ।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः । २० ।

१० दया से द्रवित उस तेजोमान् ऋषि ने मुझ कहा, "हे राजन् कुछ समय बीतने पर तुम्हारा छुटकारा होगा।

११ ऋषि ने मुझे यह भी कहा, जो कोई विशेषज्ञ तुम्हारे पूछे हुये प्रश्नों के उत्तर देगा वह तुम्हें इस शाप से छुड़ायेगा।।

१२ उधर अनिष्ट परिणाम वाले भयंकर उत्पातों की कल्पना करता हुआ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर अस्वस्थ चित्त हो गया।

१३,१४ बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर किसी महान् भय की शंका से उस साँप के शरीर से जकड़े हुए प्रिय भाई वीर भीम को पाकर इधर उधर खोजता हुआ बोला।

१५ हे कुन्ती के पुत्र यह आपत्ति तुम पर कैसे आ पड़ी

१६ तब अपने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर को लक्ष्य करके उनके भाई भीम ने अपने पकड़े तथा जाने निश्चेष्ट होने की सारी बातें बताई।

युधिष्ठिर ने कहा

१७ हे सर्प, क्या देकर या क्या जानकर तुम खुश हो सकते हो? या क्या आहार तुम्हें दूं जिससे तुम प्रसन्न हो सकोगे? इस भीम को किस उपाय से आप मुक्त करेंगे?

सर्प ने कहा

१८ यदि तुम मेरे पूछ हुये प्रश्नों के उत्तर दोगे, तब उसके बाद में मैं तुम्हारे भाई वृकोदर को मुक्त करूँ।

१९ हे राजा, ब्राह्मण किसे कहा जाये? हे युधिष्ठिर क्या जानने योग्य है? तुम्हारे वचनों से मैं अनुमान करता हूँ कि तुम अत्यन्त बुद्धिमान् हो।

युधिष्ठिर ने कहा

२० हे नागराज, जिस व्यक्ति में सत्य, दानशीलता, क्षमा, सद्वर्तन, क्रूरता का अभाव, संयम और दया ये गुण देखने में आयें उसे ब्राह्मण कहा गया है।

वेद्यं सर्प परं ब्रह्म निर्दुःखमसुखं च यत् ।
यत्र गत्वा न शोचन्ति भवतः किं विवक्षितम् । २१ ।

सर्प उवाच

चातुर्वर्ण्यं प्रमाणं च सत्यं च ब्रह्म चैव ह ।
शूद्रेष्वपि च सत्यं च दानमक्रोध एव च ।
आनृशंस्यमहिंसा च घृणा चैव युधिष्ठिर । २२ ।

युधिष्ठिर उवाच

शूद्रे चैतद्भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते ।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः । २३ ।

यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः ।
यत्रैतन्न भवेत्सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत् । २४ ।

सर्प उवाच

यदि ते वृत्ततो राजन्ब्राह्मणः प्रसमीक्षितः ।
व्यर्था जातिस्तदायुष्मन्कृति यावन्न दृश्यते । २५ ।

युधिष्ठिर उवाच

जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते ।
संकरात्सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः । २६ ।

सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति यदा नराः ।
वाङ्मैथुनमथो जन्म मरणं च समं नृणाम् । २७ ।

२१ पुनश्च हे सर्प जिसमें दुःख या सुख नहीं है, और जहां जाकर जिसे प्राप्त करने पर) मनुष्यों को शोक नहीं होता वह पर ब्रह्म जानने योग्य है। आप का क्या अभिप्राय है ?।

सर्प ने कहा

२२ हे युधिष्ठिर, चार वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय; वैश्य, शूद्र) प्रमाण सिद्ध हैं यह सत्य है एवं ब्रह्म (वेद) भी यह कहता है। तब यदि शूद्रों में भी सत्य, दानशीलता, क्रोधाभाव, अक्रूरता अहिंसा एवं दया आदि देखे जाते हैं। (क्या ऐसे शूद्र को ब्राह्मण कहा जाय ?)।

युधिष्ठिर ने कहा

२३ यदि शूद्र में ये गुण देखे जायें तो वह जन्म से शूद्र होते हुए भी शूद्र नहीं है। और यदि ब्राह्मण में ये गुण न हों तो वह जन्म से ब्राह्मण होते हुए भी ब्राह्मण नहीं है।

२४ ऐसा आचरण जिस व्यक्ति में देखा जाय, वह ब्राह्मण है ऐसा धर्मशास्त्र कहता है, और जिसमें यह न देखा जाय उसे शूद्र कहना चाहिये।

सर्प ने कहा

२५ हे राजा, यदि तुम मानते हो कि आचरण से ही कोई ब्राह्मण बनता है, तब तो जब तक यह आचरण किसी में न देखा जाय तब तक उसका ब्राह्मण कुल में जन्म लेना व्यर्थ हो जाएगा।

युधिष्ठिर ने कहा

२६ हे महाबुद्धिमान सर्पराज, मैं मानता हूँ कि मनुष्यत्व के विषय में तो सर्ववर्णों का आपस में मिश्रण हो जाने के कारण सबमें मनुष्यत्व होने से शुद्ध जाति की पहचान बड़ा मुश्किल है।

२७ क्योंकि सब वर्ण के पुरुष सब वर्ण की स्त्रियों में सन्तान उत्पन्न करते हैं। मनुष्यों की वाणी, मैथुन, जन्म और मरण एक ही प्रकार के होते हैं।

इदमार्षं प्रमाणं च ये यजामह इत्यपि ।
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः । २८ ।

यत्रेदानीं महासर्प संस्कृतं वृत्तमिष्यते ।
यं ब्राह्मणमहं पूर्वमुक्तवान् भुजगोत्तम । २९ ।

—०—

२८ यह 'ये यजामहे' (हम जो भी कोई हैं यज्ञ करते हैं) इत्यादि श्रुति वाक्य ही इस विषय में प्रमाण रूप हैं। इस लिये सच्चे तत्त्व को जानने वाले शील (सदाचरण) को ही मुख्य इष्ट गुण समझते हैं।

२९ हे सर्पराज, मैंने पहिले ही कहा कि आजकल तो जिस व्यक्ति में संस्कार युक्त (पवित्र) आचरण देखने में आये वही ब्राह्मण है।

शब्दार्थ

यदृच्छया=वैसे ही, अपनी मर्जी से।

वृकोदर =भीम, वृक माने भेड़िया। भीम भेड़िए की तरह खूब खाता था, मानो उसके पेट में वृक था। इसलिए उसे वृकोदर कहते थे।

पृदाकु =चित्रक साँप, उछलने वाला साँप।

नहुष =चन्द्रवंशी आयु का पुत्र, पुरुरवा का पौत्र। वृत्र को मारने से लगी ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करने के लिए इन्द्र जब जलाशय में था तब नहुष को इन्द्र पद ग्रहण करने को कहा गया। वह इन्द्राणी की कामना करने लगा तब इन्द्राणी ने उसे सप्तर्षियों के द्वारा उठायी हुई पालकीमें बैठ कर आने को कहा। पालकी में बैठे हुए वह ऋषियों को 'सर्प' 'चलो चलो' ऐसे बार बार कहने लगा तब अगस्त्य ने क्रोध-वश उसे सर्प बनने का शाप दिया। इस हीन स्थिति में से युधिष्ठिर ने उसका उद्धार किया।

अगस्त्य =एक प्रसिद्ध महर्षि जो सप्तर्षियों में से एक हैं। अगस्त्य मित्रावरुणदेव के पुत्र थे।

आनृशंस्यम्=क्रूरता का अभाव, नम्रता, दया, अहिंसा,।

घृणा =दया।

जातिसंकर=ब्राह्मणादि जातियों का मिश्र हो जाना।

ये यजामहे ='य एवास्मि स सन् यजे' इस मंत्र का एक खंड मंत्रार्थ है, मैं जो भी कोई हूँ वही होकर मैं हे देव तुम्हारा अर्चन करता हूँ। यज्ञ करते समय "हम ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण यह हम नहीं जानते।" "न चैतद् विद्मो ब्राह्मणाः स्मो वयम-ब्राह्मणाः" ऐसी शंका होने पर "ये यजामहे" यह मंत्र उस शंका का उत्तर है।

शीलम् =सदाचार।

वृत्तम् =आचरण।

वाली को तारा का हितपरिणामी वचन

रामायण और महाभारत ये दो भारत के राष्ट्रीय महाकाव्य हैं। इन दो महाकाव्यों में आर्ष काव्य की एक सुदीर्घ परम्परा सुरक्षित है। इनमें महाभारत न केवल वीरकाव्य ही है अपितु उसकी ऐतिहासिक सामग्री, विशाल राष्ट्रीय लक्षण आदि के कारण वह सम्पूर्ण साहित्य ही है, जबकि रामायण लोकप्रिय आलंकारिक महाकाव्य ही नहीं किन्तु महाभारत से अधिक सुग्रथित वीरकाव्य भी है। महाभारत विविध प्रकार की साहित्यिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं दार्शनिक सामग्री का महान भंडार है। रामायण को जो आदिकाव्य कहा गया है और उसके रचयिता मुनि वाल्मीकि जो आदि कवि माने गए हैं, यह यथार्थ है।

रामायण में राम की जीवनी एवं पराक्रमों का वर्णन है। उसके बालकाण्ड आदि सात भाग या काण्ड हैं। प्रस्तुत प्रसंग किष्किन्धाकाण्ड से लिया गया है। सीता और लक्ष्मण सहित राम वनवास के दिनों में पञ्चवटी में रहते थे। यहाँ से रावण सीता को हर ले गया। सीता की खोज करने के लिए राम लक्ष्मण निकले। किष्किन्धा में सुग्रीव एवं उसके विश्वस्त सहायक हनुमान से उनकी भेंट हुई। सुग्रीव के अग्रज वाली ने सुग्रीव को राज्य भगा दिया था और उसकी पत्नी रुमा को भी ले लिया था। राम और सुग्रीव समदुखिये थे। अतः वे मित्र बन गए। राम ने सुग्रीव को यह आश्वासन दिया कि पत्नी और राज्य की पुनः प्राप्ति में सुग्रीव की वे सहायता करेंगे। सुग्रीव ने भी सीता की खोज के लिए वानर सैन्य को चारों ओर भेजने का वचन दिया। फिर राम ने बाली को द्वन्द्व युद्ध के लिए ललकारने को सुग्रीव से कहा। इस प्रसंग में तारा ने वाली को समझाया कि वैर का त्याग करके वह सुग्रीव से बन्धुत्व और सौहार्द बढ़ाये। प्रस्तुत पद्यांश में तारा का वह उपदेश ग्रथित है।

वालिने तारायाः हितोदर्कं वचः

अथ तस्य निनादं तं सुग्रीवस्य महात्मनः ।
शुश्रावान्तःपुरगतो बाली भ्रातुरमर्षणः ॥ १ ॥
श्रुत्वा तु तस्य निनदं सर्वभूतप्रकम्पनम् ।
मदश्चैकपदे नष्टः क्रोधश्चापतितो महान् ॥ २ ॥

स तु रोषपरीताङ्गो वाली संध्यातपप्रभः ।
उपरक्त इवादित्यः सद्यो निष्प्रभतां गतः ॥ ३ ॥
वाली दंष्ट्राकरालस्तु क्रोधाद्दीप्ताग्निसन्निभः ।
भात्युत्पतितपद्माभः समृणाल इव ह्रदः ॥ ४ ॥

शब्दं दुर्मर्षणं श्रुत्वा निष्पपात ततो हरिः ।
वेगेन चरणन्यासैर्दारयन्निव मेदिनीम् ॥ ५ ॥

तं तु तारा परिष्वज्य स्नेहाद्दर्शितसौहृदा ।
उवाच त्रस्तसम्भ्रान्ता हितोदर्कमिदं वचः ॥ ६ ॥

साधु क्रोधमिमं वीर नदीवेगमिवागतम् ।
शयनादुत्थितः कार्यं त्यज भुक्तामिव स्रजम् ॥ ७ ॥

सहसा तव निष्क्रामो मम तावन्न रोचते ।
श्रूयतामभिधास्यामि यन्निमित्तं निवार्यसे ॥ ८ ॥

वाली को तारा का हितपरिणामी वचन

१ बाद में अन्तःपुर स्थित क्रुद्ध वाली ने महामना भाई सुग्रीव की गर्जना सुनी।

२ सभी प्राणियों को हिला देने वाली उस सुग्रीव की गर्जना सुनकर तत्क्षण ही वाली का मद्य जनित मद दूर हो गया और उसे बड़ा गुस्सा आया।

३ रोष से व्याप्त शरीर वह (वाली) सन्ध्या की धूप की तरह निस्तेज, राहु से ग्रस्त सूर्य सा तुरन्त ही हतप्रभ हो गया।

४ भयानक दाढ़वाला एवं क्रोध से प्रदीप्त अग्नि सी आंखों वाला वह वाली कमलों के नष्ट हो जाने से शोभा रहित, (केवल) मृणाल दण्ड वाले जलाशय जैसा लगता था।

५ बाद में (सुग्रीव की) दुःसह गर्जना सुनकर, वेग से पाँव रखने के कारण पृथ्वी को फाड़ता सा हुआ वह वानरराज (वाली) (अंतःपुर से) बाहर निकला।

६ (अंतःपुर से) बाहर निकलते हुए उस वाली को तारा (वाली की पत्नी) ने सौहार्द्र जताकर, प्रेम से आलिङ्गन में बाँधकर, कुछ विह्वल और भयभीत होकर परिणाम-हितकारी वचन कहा।

७ हे वीर, कुछ काल के लिए आये हुए नदी के वेग जैसे इस क्रोध को जैसे प्रातःकाल में शय्या से उठा हुआ आदमी पिछले दिन धारण की हुई अत एव म्लान पुष्प माला को त्याग देता है, छोड़ दो।

८ एकाएक बिना विचारे तुम्हारा (युद्ध के लिए) बाहर निकलना मुझे अच्छा नहीं लगता। किस कारण से तुम्हें रोका जा रहा है यह तुम-मुझसे सुनो, मैं कहती हूँ।

पूर्वमापतितः क्रोधात्स त्वामाह्वयते युधि ।
निष्पत्य च निरस्तस्ते हन्यमानो दिशो गतः ॥ ९ ॥

त्वया तस्य निरस्तस्य पीडितस्य विशेषतः ।
इहेत्थं पुनराह्वानं शङ्कां जनयतीव मे ॥ १० ॥
दर्पश्च व्यवसायश्च यादृशस्तस्य नर्दतः ।
निनादस्य च संरम्भो नैतदल्पं हि कारणम् ॥ ११ ॥

नासहायमहं मन्ये सुग्रीवं तमिहागतम् ।
अवष्टब्धसहायश्च यमाश्रित्येष गर्जति ॥ १२ ॥

प्रकृत्या निपुणश्चैव बुद्धिमांश्चैव वानरः ।
अपरीक्षितवीर्येण सुग्रीवः सह नैष्यति ॥ १३ ॥
पूर्वमेव मया वीर श्रुतं कथयतो वचः ।
अङ्गदस्य कुमारस्य वक्ष्यामि त्वा हितं वचः ॥ १४ ॥

तव भ्रातुर्हि विख्यातः सहायो रणकर्कशः ।
रामः परबलामर्दी युगान्ताग्निरिवोत्थितः ॥ १५ ॥

निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परा गतिः ।
आर्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैकभाजनम् ॥ १६ ॥

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो निदेशे निरतः पितुः ।
धातूनामिव शैलेन्द्रो गुणानामाकरो महान् ॥ १७ ॥

तत्क्षमं न विरोधस्ते सह तेन महात्मना ।
दुर्जयेनाप्रमेयेन रामेण रणकर्मसु ॥ १८ ॥

९ जो पहले गुस्से में आकर सुग्रीव तुम्हें युद्ध में ललकारता था और तुमने आक्रमण करके भगा दिया था एवं मार खाता हुआ वह भाग गया।

१० तुम्हारे द्वारा पराभूत एवं खूब व्यथित होकर गये हुए सुग्रीव का फिर से ललकारना मेरे मन में शङ्का उत्पन्न करता है।

११ गर्जना करते हुए उस सुग्रीव का जो घमंड और निश्चय दिख रहा है एवं उसकी गर्जना का जो आडंबर दिख रहा है वह किसी छोटे कारण से नहीं हो सकता है।

१२ यहाँ आये हुए उस सुग्रीव को मैं असहाय नहीं मानती। वह किसी की प्रबल सहायता लेकर आया है जिसके आधार पर यह (सुग्रीव) गर्जना करता है।

१३ यह वानर (सुग्रीव) स्वभाव से चतुर एवं बुद्धिमान् है। पराक्रम की परीक्षा किये बिना वह किसी से मैत्री नहीं करेगा।

१४ हे वीर ! पहले ही मैंने यह बात, कहते हुए कुमार अङ्गद के मुंह से सुनी है, तुम्हें मैं वह हितकारी बात कहूँगी।

१५ तुम्हारे भाई (सुग्रीव) का सहायक, रण में शूर एवं दुश्मनों के सैन्य को चूर-चूर कर देने वाला, प्रलयकाल के अन्त में उत्पन्न अग्नि की तरह राम एक सुप्रसिद्ध व्यक्ति है।

१६ वह राम सज्जनों का निवास वृक्ष है (अर्थात् पेड़ जैसे अपनी छाया के द्वारा शीतलता प्रदान करता है वैसे ही राम सज्जनों को आनन्द देने वाला है); दुःखी जनों का सम्पूर्ण रक्षक, पीड़ितों का आश्रय-स्थान एवं यश का एकमात्र स्थान है।

१७ वह राम, पिता (दशरथ) का आज्ञा-पालक, ज्ञान एवं उसके प्रयोग में कुशल, धातुओं की खान हिमालय की तरह गुणों का आकर है।

१८ अपराजेय एवं कल्पनातीत रणकौशल वाले उस महात्मा राम से विरोध करना तुम्हारी शक्ति से बाहर है और ठीक नहीं है।

शूर वक्ष्यामि ते किञ्चिन्न चेच्छाम्यवसूयितुम् ।
श्रूयतां क्रियतां चैव तव वक्ष्यामि यद्धितम् ॥ १९ ॥

यौवराज्येन सुग्रीवं तूर्णं त्वाभिषेचय ।
विग्रहं मा कृथा वीरं भ्रात्रा राजन् बलीयसा ॥ २० ॥

अहं हि ते क्षमं मन्ये तव रामेण सौहृदम् ।
सुग्रीवेण च संप्रीतिं वैरमुत्सृज्य दूरतः ॥ २१ ॥

लालनीयो हि ते भ्राता यवीयानेष वानरः ।
तत्र वा सन्निहस्थो वा सर्वथा बन्धुरेव ते ॥ २२ ॥

यदि ते मत्प्रियं कार्यं यदि चावैषि मां हिताम् ॥
याच्यमानः प्रयत्नेन साधु वाक्यं कुरुष्व मे ॥ २३ ॥

(वाल्मीकिरचित रामायणे किष्किन्धाकाण्डे पञ्चदशोऽध्यायः)

१९ हे वीर, मैं दोष निकालना नहीं चाहती हूँ किन्तु तुम्हें कुछ कहना चाहती हूँ। जो मैं तुम्हारे लिए हितकारी बात कह रही हूँ उसे सुनो और करो।

२० हे वीर, शीघ्र ही सुग्रीव को युवराज पद पर भली भाँति बिठाओ और हे राजन् बलवत्तर भाई के साथ वैर मत करो।

२१ राम के साथ तुम्हारी मैत्री एवं सुग्रीव से सर्वथा वैरभाव छोड़कर स्नेह (ये दो बातें) तुम्हारे लिए योग्य है ऐसा मेरा विचार है।

२२ तुम्हारा छोटा भाई वानर सुग्रीव तुम्हारे द्वारा लालन के योग्य है। वह (सुग्रीव) वहाँ (ऋष्यमूक गिरि पर) रहे अथवा यहाँ (किष्किन्धा नगरी में) रहे, फिर भी वह सर्वथा तुम्हारा बन्धु ही है।

२३ यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो, और यदि मुझे अपनी हितैषिणी समझते हो तो मेरी अच्छी सलाह प्रयत्नपूर्वक सफल करो।

परिव्रज्या के लिए सिद्धार्थ की मनोकामना

अश्वघोष प्रशिष्ट (श्रेण्य) संस्कृत वाङ्मय का प्रथम महाकवि एवं प्रबुद्ध माना गया है। वह बौद्ध संन्यासी था। बौद्ध साहित्य में प्राप्त उल्लेखों में वह महाकवि एवं महावादी कहा गया है। अश्वघोष राजा कनिष्क का समसामयिक और उसका तत्त्वोपदेशक था। अतः ईसा की प्रथम शती के आसपास उसका समय ठहरता है।

अश्वघोष की कीर्तिपताका के समान उसकी तीन कृतियां प्रसिद्ध हैं। उनमें (१) बुद्धचरितम् और (२) सौन्दरनन्दम् ये दो महाकाव्य हैं और सारी पुत्र प्रकरण नाट्यकृति है।

प्रस्तुत उद्धरण बुद्धचरित महाकाव्य के पंचम सर्ग से लिया गया है। बुद्ध चरित में भगवान् बुद्ध की सम्पूर्ण जीवनी चित्रित है। बु द्धचरित अठ्ठाईस सर्ग का महाकाव्य था किन्तु उपलब्ध कृति चौदहवें सर्ग के इकतीस श्लोक तक की है।

प्रस्तुत उद्धरण में राजकुमार सिद्धार्थ के मनःक्षोभ का अत्यन्त काव्य-मय चित्रण है। जीवन का अन्तिम ध्येय मोक्ष प्राप्त करने के लिए धर्ममय जीवन जीने की सिद्धार्थ की तीव्र इच्छा का यहां मनोहारी वर्णन है। सिद्धार्थ के पिता को कुमार की ऐसी इच्छा के कारण जो दुःख हुआ उस का भी यथार्थ वर्णन यहाँ है। पिता पुत्र का इस विषय मैं निष्कपट संवाद भी रोचक है। कुछ ही शब्दों में कवि ने सिद्धार्थ की मनोदशा और उसके क्षोभ का सदृश वर्णन किया है। अर्थपूर्ण पदों एवं रूपकात्मक शैली के द्वारा कवि ने सजीव चित्र प्रस्तुत किया है।

सिद्धार्थस्य परिविव्रजिषा

मृगराजगतिस्ततोऽभ्यागच्छन्नृपतिं मन्त्रिगणैरुपास्यमानम् ।
समितौ मरुतामिव ज्वलन्तं मघवन्तं त्रिदिवे सनत्कुमारः ।१।

प्रणिपत्य च साञ्जलिर्बभाषे दिश मह्यं नरदेव साध्वनुज्ञाम् ।
परिविव्रजिषामि मोक्षहेतोर्नियतो ह्यस्य जनस्य विप्रयोगः ।२।

इति तस्य वचो निशम्य राजा करिणेवाभिहतो द्रुमश्चचाल ।
कमलप्रतिमेऽञ्जलौ गृहीत्वा वचनं चेदमुवाच बाष्पकण्ठः ।३।

प्रतिसंहर तात बुद्धिमेतां न हि कालस्तव धर्मसंश्रयस्य ।
वचसि प्रथमे मतौ चलायां बहुदोषां हि वदन्ति धर्मचर्याम् ।४।

विषयेषु कुतूहलेन्द्रियस्य व्रतखेदेष्वसमर्थनिश्चयस्य ।
तरुणस्य मनश्चलत्यरण्यादनभिज्ञस्य विशेषतो विवेके ।५।

मम तु प्रियधर्म धर्मकालस्त्वयि लक्ष्मीमवसृज्य लक्ष्मभूते ।
स्थिरविक्रम विक्रमेण धर्मस्तव हित्वा तु गुरुं भवेदधमः ।६।

तदिमं व्यवसायमुत्सृज त्वं भव तावन्निरतो गृहस्थधर्मे ।
पुरुषस्य वयःसुखानि भुक्त्वा रमणीयो हि तपोवनप्रवेशः ।७।

परिव्रज्या के लिए सिद्धार्थ की मनोकामना

१. तत्पश्चात् जैसे स्वर्ग में देवों की सभा में तेजोमय इन्द्र के सन्निकट सनत्कुमार गये इस प्रकार मन्त्रिवरसे सेवित राजा शुद्धोदन के सन्निधि में सिंहसमान गतिवाला कुमार सिद्धार्थ गया।

२. पुनः प्रणाम करके हाथ जोड़ कर उसने कहा, हे राजन् मोक्ष के लिए मैं परिव्रज्या (संन्यास) ग्रहण करने का इच्छुक हूं। मुझे आज्ञा दो। वैसे भी इस जन का (मेरा) वियोग तो अवश्यंभावी है।

३. कुमार का यह वचन सुन कर राजा हाथी द्वारा आहत वृक्ष के समान हिल उठा और उसके कमल समान जोड़े हुए हाथों को पकड़कर आंसू भरे कंठ से यह वाक्य कहने लगा।

४. हे तात, इस निश्चय को छोड़ दो। संन्यास धर्म का (मार्ग) ग्रहण करने का तुम्हारा समय अभी नहीं है। प्रथम वय में (तारुण्य में) जब कि मन बड़ा चंचल रहता है, सन्यास धर्म के आचरण में बहुत दोष उत्पन्न होते हैं ऐसा (अनुभवी) लोग कहते हैं।

५. नवयुवक की इन्द्रियां विषय भोग की इच्छुक होती हैं। धर्मव्रतों के कष्टों को झेलने का निश्चय करने में अशक्त होता है और विशेषतः विवेक नहीं कर सकता है, अतः ऐसे नवयुवक का मन अरण्यवास से ऊब जाता है।

६. हे धर्मप्रिय कुमार, यह राज्यलक्ष्मी तुम्हें सौंपकर संन्यास धर्म-ग्रहण करने का समय तो मेरा है। हे दृढ पराक्रमी, तुम्हारा धर्म तो पराक्रम करने में है। पिता के त्याग से तुम्हें अधर्म होगा।

७. इसलिए इस निश्चय को छोड़कर गृहस्थ धर्म में मग्न रहो। वय के अनुसार सुखोपभोग करने के बाद तपोवन में जाना ही उचित है।

इति वाक्यमिदं निशम्य राज्ञः कलविङ्कस्वर उत्तरं बभाषे ।
यदि मे प्रतिभूश्चतुर्षु राजन् भवसि त्वं न तपोवनं श्रयिष्ये ।८।

न भवेन्मरणाय जीवितं मे विहरेत्स्वास्थ्यमिदं च मे न रोगः ।
न च यौवनमाक्षिपेज्जरा मे न च संपत्तिमिमां हरेद्विपत्तिः ।९।

इति दुर्लभमर्थमूचिवांसं तनयं वाक्यमुवाच शाक्यराजः ।
त्यज बुद्धिमिमामतिप्रवृत्तामवहास्योऽतिमनोरथोऽक्रमश्च ।१०।

अथ मेरुगुरुर्गुरुं बभाषे यदि नास्ति क्रम एष नास्ति वार्यः ।
शरणाज्ज्वलनेन दह्यमानान्न हि निश्चिक्रमिषुः क्षमं ग्रहीतुम् ।११।

जगतश्च यदा ध्रुवो वियोगो ननु धर्माय वरं स्वयं वियोगः ।
अवशं ननु विप्रयोजयेन्मामकृतस्वार्थमतृप्तमेव मृत्युः ।१२।

इति भूमिपतिर्निशम्य तस्य व्यवसायं तनयस्य निर्मुमुक्षोः
अभिधाय न यास्यतीति भूयो विदधे रक्षणमुत्तमांश्च कामान् ।१३।

सचिवैस्तु निदर्शितो यथावद् बहुमानात्प्रणयाच्च शास्त्रपूर्वम् ।
गुरुणा च निवारितोऽश्रुपातैः प्रविवेशावसथं ततः स शोचन् ।१४।

८. राजा के इन वचनों को सुनकर कलविंक (चटक) के समान स्वर वाले राजकुमार ने उत्तर में कहा कि 'यदि चार बातों में आप मुझे विश्वास दिलाते हों तो मैं तपोवन नहीं जाऊँगा (संन्यास न लूंगा)।

९. मेरे जीवन में मरण न हो। रोग मेरे इस आरोग्य को न हर ले। वृद्धत्व मेरे यौवन को झपट न ले और मेरी इस सम्पत्ति का हरण नहीं करे।

१०. इस प्रकार अति दुर्लभ वचन कहने वाले पुत्र को शाक्यराज ने कहा, 'मर्यादा से बाहर जाने वाले इस निश्चय का त्याग करो। हद के बाहर जाने की इच्छा, क्रम का त्याग और अयोग्य कर्म से आदमी हास्यास्पद बनता है।

११. तब मेरु जैसे महान सिद्धार्थ ने कहा, 'यदि यह अनुक्रम नहीं है (मेरे प्रश्नों का योग्य उत्तर नहीं मिलता है तो मुझे रोकना नहीं चाहिए। आग में जलते हुए घर से निकलने के इच्छुक को क्रम की रक्षा के लिए पकड़ रखना शक्य नहीं।

१२. यदि इस जगत से वियोग होना निश्चित ही है तो फिर संन्यास धर्म के लिए उसका त्याग करना ही अच्छा ; क्योंकि मौत तो मेरा स्वार्थ पूर्ण न होने पर भी और तृप्ति प्राप्त न करने पर भी बरबस मुझे इस संसार से अवश्य वियुक्त कर देगी।

१३. इस प्रकार संसार छोड़ने के इच्छुक पुत्र का यह निश्चय सुनकर, कदाचित बिना कहे ही यह चला न जाये यह सोचकर राजा ने सुरक्षा और उत्तम कामभोग की व्यवस्था की।

१४. सचिवों के द्वारा मानपूर्वक योग्यतानुसार स्नेह से शास्त्र वचनों के द्वारा समझाया हुआ और रोते हुए पिता से निवारित वह बड़े शोक के साथ आवास में प्रविष्ट हुआ।

शब्दार्थ

परिविव्रजिषा=संसार छोड़ने (संन्यास) की इच्छा

त्रिदिवे=स्वर्ग में

मरुतां समितौ=देवों की सभा में

मघवन्तम्=उदार दानी इन्द्र को

इस पद्य में उपमा है जिसमें सिद्धार्थ की सनत्कुमार से, शुद्धोदन की इन्द्र से और राजसभा की देवसभा से तुलना की गई है।

साध्वनुज्ञा=उदार मन से दी गई इजाजत

परिविव्रजिषामि=मैं संसार का त्याग करने का इच्छुक हूँ।

परि+व्रज् इच्छार्थक सन् उत्तम पुरुष एक वचन वर्तमान काल।

कमलप्रतिम=कमल के साथ तुलनीय, कमल सदृश 'अंजलि' का विशेषण

कुतूहलेन्द्रियस्य='तरुणस्य' का विशेषण। युवक, जिसकी इन्द्रियाँ विषयों के प्रति कुतूहलपूर्ण हैं।

कलविङ्कस्वरः=चटक के समान मधुर स्वर वाला

प्रतिभू=विश्वास दिखाने वाला, जमानत देने वाला

अक्रमः=अयोग्य कर्म अशक्य कार्य, क्रम का अभाव

आवसथ=निवासगृह, प्रासाद।

मनीषापञ्चक

भारत में भक्तिकाव्य की परम्परा वेदों की तरह प्राचीन है। वेदों के सूक्त विविध देवों की स्तुतियां हैं। कवचस्तोत्र, शतनाम, सहस्त्रनाम, मानस पूजा, तीर्थस्तोत्र, नदी स्तोत्र दार्शनिक स्तोत्र आदि कई प्रकार के स्तोत्र होते हैं।

प्रस्तुत स्तोत्र 'मनीषा पञ्चकम्' आदि शङ्कराचार्य (६८८-७२० की कृति है। श्री शङ्करने संन्यस्त संस्था का पुनर्गठन किया और स्वीकृत पञ्चदेव पूजा का स्वरूप निश्चित किया। दार्शनिक निष्ठा एवं धार्मिक एकसूत्र ता की दृष्टि से श्री शंकर ने भारत के चार स्थानों में चार मठ या पीठ स्थापित किये। पश्चिम में गुजरातस्थ द्वारका में शारदा पीठ, दक्षिण में कर्णाटकस्थ शृङ्गेरी पीठ, पूर्व जगन्नाथ पुरी में गोवर्धन पीठ, एवं उत्तर भारत में जोतिर्मठ का पीठ। बत्तीस वर्ष की आयु में उन्होंने यह सब कर लिया और तब उनका देहान्त हुआ।

प्रस्तुत काव्य श्री शङ्कर के जीवन की एक विचित्र घटना से सम्बद्ध है। अस्पृश्यता विषयक आधुनिक काल की समस्या के प्रश्न में इस काव्य की बड़ी उपादेयता दिखाई पड़ती है। श्री शंकर जब काशी में थे तब चाण्डाल रूपधारी भगवान शिव से आपका विवाद हो गया। तब उन्हें अस्पृश्यता विषयक रूढ मान्यता के अशास्त्रीय होने की प्रतीति हुई। इस प्रसंग की स्मृति में आपने मनीषा पञ्चक स्तोत्र की रचना की। इस स्तोत्र के पांच पद्यों में मनीषा शब्द का प्रयोग है। अतः इसका नाम 'मनीषा पञ्चकम्' है। यह एक तत्त्वपूर्ण सुन्दर काव्य है।

मनीषापञ्चकम्

सत्याचार्यस्य गमने काशी क्षेत्रं कदाचन ।
मुक्तिदं प्रतिमार्गे वै सह गौर्या तु शंकरम् । १ ।
अन्त्यवेषधरं दृष्ट्वा गच्छ गच्छेति चाब्रवीत् ।
शंकरः सोऽपि चांडालस्तं पुनः प्राह शंकरम् । २ ।

अन्नमयादन्नमयमथवा चैतन्यमेव चैतन्यात् ।
द्विजवर दूरीकर्तुं वाञ्छसि किं ब्रूहि गच्छगच्छेति ।३।

किं गङ्गाम्बुनि बिम्बितेऽम्बरमणौ चाण्डालवारीपयः—
पूरे चान्तरमस्ति काञ्चनघटीमृत्कुम्भयोर्वाम्बरे ।
प्रत्यग्वस्तुनि निस्तरङ्गसहजानन्दावबोधाम्बुधौ
विप्रोऽयं श्वपचोऽयमित्यपि महान् कोऽयं विभेदभ्रमः ।। ४ ।।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटतरा या संविदुज्जृम्भते
या ब्रह्मादिपिपीलिकान्ततनुषु प्रोता जगत्साक्षिणी ।
सैवाहं न च दृश्यवस्त्विति दृढप्रज्ञापि यस्यास्ति चेच्-
चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम । ५ ।

पांच मनीषाएं

१-२ कदाचित् मोक्षदायक काशीक्षेत्र की ओर आचार्य (शंकर) का जाना हुआ तब मार्ग में अन्त्यज (अछूत) का वेश धारण किये हुए, शंकर को गौरी के साथ देखकर शंकराचार्य ने "चले जाओ (हटो), जाओ" ऐसा जब कहा तब चाण्डाल ने शंकराचार्य को कहा ।

३. हे द्विजश्रेष्ठ, बताओ तो, "जाओ जाओ" कहकर क्या तुम एक अन्नमय (भौतिक) शरीर को दूसरे अन्नमय शरीर से दूर हठाना चाहते हो, या एक चैतन्य (आत्मा) से दूसरे चैतन्य को दूर हटाना चाहते हो ?

४. गंगा के जल में प्रतिबिम्बित या चाण्डाल की गली के जलप्रवाह में प्रतिबिम्बित सूर्य में क्या कोई अंतर (भेद) है ? अथवा सुवर्ण कुम्भ में स्थित आकाश और मिट्टी के घड़े के आकाश में कोई भेद है ? तरंगरहित (शान्त स्थिर) स्वाभाविक आनन्द के ज्ञान सागर रूप अंतरात्मा में 'यह ब्राह्मण, यह चाण्डाल' ऐसे भेद का भ्रम तुम्हें कहाँ से हुआ ?

५. जाग्रदवस्था, स्वप्न और निद्रावस्था में जो अतिस्पष्ट भाव रहता है अथवा ब्रह्म से लेकर चांदी तक के शरीर में ओतप्रोत सर्व को देखने वाला (जानने वाला) जो ज्ञान है वही मैं हूं, मैं कोई बाहरी दिखावा नहीं हूँ, ऐसी दृढ बुद्धि यदि किसी को भी हो तो वह चाण्डाल हो या द्विज हो वही महान (गुरु) है, ऐसा मैं समझता हूँ ।

ब्रह्मैवाहमिदं जगच्च सकलं चिन्मात्रविस्तारितं
सर्वं चैतदविद्यया त्रिगुणयाऽशेषं मया कल्पितम् ।
इत्थं यस्य मतिः दृढा सुखतरे नित्ये परे निर्मले
चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम । ६ ।

शश्वन्नश्वरमेव बिम्बमखिलं निश्चित्य वाचा गुरो-
र्नित्यं ब्रह्म निरन्तरं विमृशता निर्व्याणशान्तात्मना ।
भूतं भावि च दुष्कृतं प्रदहता संविन्मये पावके
प्रारब्धाय समर्पितं स्वपुरित्येषा मनीषा मम । ७ ।

या तिर्यङ्नरदेवताभिरहमित्यन्तः स्फुटा गृह्यते
यद्भासा हृदयाक्षदेहविषया भान्ति स्वतोऽचेतनाः ।
तां भास्यैः पिहितार्कमण्डलनिभां स्फूर्तिं सदा भावयन्
योगी निर्वृतमानसो हि गुरुरित्येषा मनीषा मम । ८ ।

यत्सौख्याम्बुधिलेशलेशत इमे शक्रादयो निर्वृता !
यच्चित्ते नितरां प्रशान्तकलने लब्ध्वा मुनिर्निर्वृतः ।
यस्मिन्नित्यसुखाम्बुधौ गलितधीर्ब्रह्मैव न ब्रह्मविद्
यः कश्चित् स सुरेन्द्रवन्दितपदो नूनं मनीषा मम । ९ ।

६. मैं ब्रह्म ही हूँ। यह सारा जगत् चैतन्य ही से विकसित हुआ है है और तीन गुणों वाली अविद्या की सहायता से मैंने ही इस सम्पूर्ण जगत का निर्माण किया है। इस प्रकार अत्यन्त सुखदायक, अविनाशी, निर्मल परम ब्रह्म में जिसकी मति (मन) दृढ़ हो वह चाण्डाल हो या ब्राह्मण हो वह गुरु पद के योग्य है, ऐसा मैं समझता हूं।

७, गुरु के उपदेश से यह निश्चयपूर्वक समझकर कि यह समस्त विश्व सदा विनाशशील ही है, जो नित्य ब्रह्म का निरन्तर चिन्तन करता किसी भी निमित्तके अभाव में जिसकी आत्मा (मन) शान्त है, शुद्ध ज्ञान रूप अग्नि में जिसने पूर्वकालीन और होने वाले दुष्कर्म को जला दिया है जिसने अपने (वर्तमान) शरीर को प्रारब्ध के वश सौंप दिया है। (अब वह उसका शरीर नहीं अतः वह चाण्डाल या ब्राह्मण कोई नहीं) ऐसा मैं समझता हूँ।

८. जो चैतन्य पशुपक्षी, मनुष्य, देव के द्वारा अपने अंतर में "मैं" के रूप में अत्यन्त स्पष्ट रूप में अनुभव किया जाता है, एवं स्वयं अचेतन होने पर भी हृदय, इन्द्रिय, देह और इन्द्रियविषय जिसके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं और प्रकाशित विषयों के द्वारा ढँके हुये सूर्यमंडल जैसे उस चैतन्य का सतत अनुभव करने वाला और सन्तुष्ट मन वाला योगी ही गुरु पद के योग्य है, ऐसा मैं समझता हूँ।

९. जिस चैतन्य सागर के अत्यल्प अंश के भी अंश से ये इन्द्र आदि देव संतुष्ट हो गये हैं, अत्यन्त दोषरहित चित्त में जिसे प्राप्त कर योगी सन्तुष्ट होता है, सदा सुख के सागर रूप जिस चैतन्य में एकाकार बुद्धिवाला मनुष्य ब्रह्मवेत्ता ही नहीं रहता; अपितु ब्रह्म ही बन जाता है, ऐसा मनुष्य कोई भी हो, इन्द्र भी उसके चरणों में वंदन करता है ऐसा मैं समझता हूं।

चारुचर्या

प्रस्ताविक

क्षेमेन्द्र संस्कृत का महान कवि था। उसका समय ईसा की ग्यारहवीं शती और निवास स्थान काश्मीर माना जाता है। काश्मीर संस्कृत विद्या का प्राचीन क्षेत्र रहा है। अपने समय का वह प्रसिद्ध और बहुशास्त्रज्ञ विद्वान था। वर्णन प्रधान, कथात्मक एवं उपदेश प्रधान तथा वक्रोक्तिपूर्ण अनेक रचनाओं के साथ काव्यशास्त्र, छन्दः शास्त्र, कविकर्म, श्रृंगार आदि विषयों पर भी उसने लेखिकी चलायी है। उसने रामायण महाभारत एवं बृहत्कथा के संक्षेपात्मक रूपाकार भी किये हैं। उसने बुद्ध के अवदान, बाण की कादम्बरी एवं वात्स्यायन के कामसूत्र के भी संक्षेप किये हैं। वह प्रतिभावन सिद्ध हस्त लेखक एवं तटस्थ समीक्षक था। विविध क्षेत्रीय रचनायें और विपुल लेखन के कारण संस्कृत साहित्यकारों में उसे सम्मान्य स्थान प्राप्त हुआ है वेद व्यास का प्रशंसक होने के नाते उसने महाभारत का संक्षेप महाभारत मञ्जरी नाम से किया, जिससे वह व्यासदास के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसने कई राजाओं और राजकुमारों को पढ़ाया।

प्रस्तुत पाठ क्षेमेन्द्र की रचना चारुचर्या से संकलित किया गया है। चारुचर्या १०१ अनुष्टुप् श्लोकों की कृति है। यह एक उपदेशात्मक कृति है जिसमें धर्म एवं राज नीति विषयक उपदेश हैं। यहाँ गृहस्थ के धर्माचरण का वर्णन है। चारुचर्या में श्लोक के पूर्वार्ध में कोई नीति विषयक उपदेश है और द्वितीयार्ध में उस उपदेश के अनुकूल उदाहरण, रामायण, महाभारत, हरिवंश बृहत्कथा एवं अन्य कथा साहित्य से दिये गये हैं। चारुचर्या की यह महत्ता है कि उत्तर कालीन कृतियां नीतिमञ्जरी, मुग्धोपदेश आदि पर उसका प्रभाव है।

चारुचर्या

श्रीलाभसुभगः सत्यासक्तः स्वर्गापवर्गदः ।
जयतात् त्रिजगत्पूज्यः सदाचार इवाच्युतः ॥ १ ॥

ब्राह्म मुहूर्ते पुरुषस्त्यजेन्निद्रामतन्द्रितः ।
प्रातः प्रबुद्धं कमलमाश्रयेच्छ्रीर्गुणाश्रया ॥ २ ॥

न मद्यव्यसनी क्षीवः कुर्याद्वेतालचेष्टितम् ।
वृष्णयो हि ययुः क्षीवास्तृणप्रहरणः क्षयम् ॥ ३ ॥

ईर्ष्या कलहमूलं स्यात्क्षमा मूलं हि संपदाम् ।
ईर्ष्यादोषाद्विप्रशापमवाप जनमेजयः ॥ ४ ॥

दानं सत्त्वमितं दद्यान्न पश्चात्तापदूषितम् ।
बलिनात्मार्पितो बन्धे दानशेषस्य शुद्धये ॥ ५ ॥

शोभन आचार

१. धनलाभ के कारण सौभाग्यशाली, सत्य का आलंबन करने वाले, स्वर्ग और मोक्ष देने वाले, तीनों लोक में पूजनीय सदाचरण के समान श्री देवी की प्राप्ति से सौभाग्यशाली, सत्य भाषा के प्रेम में आसक्त, स्वर्ग और मोक्ष के दाता, तीनों लोकों के पूज्य भगवान विष्णु जयशाली हो।

२. मनुष्य को आलस्य छोड़कर बड़ी सुबह निद्रा का त्याग करना चाहिये। गुणों के साथ रहने वाली श्री (लक्ष्मी, शोभा) प्रभात में विकसित कमल में निवास करती हैं। लक्ष्मी कम् = किसको। अलं =पर्याप्त्या=अच्छी तरह से अपनाती है ? उत्तर है प्रातः काल प्रबुद्ध को।

३. मद्य के व्यसन से मतवाला होकर वेताल (भूत) जैसा आचरण न न करना चाहिये। मद्य से मतवाले वृष्णि यादव केवल ऐरा नामक थास से परस्पर प्रहार करके विनष्ट हुए !

४. ईर्ष्या कलह का मूल है और क्षमा सुख सम्पत्ति का ईर्ष्या रूप दोष के कारण जनमेजय राजा को ब्राह्मण का शाप मिला।

५. दान, सात्विक भाव (पवित्र मन) से करना चाहिए। दान देकर पछताना नहीं चाहिए। पश्चात्ताप दान को दूषित कर देता है। वलि ने अपने दान को पूर्ण करने के लिये बिना पछताये अपने आपको (वामन भगवान को) अर्पित कर दिया था और वचन बद्धता को निभाते हुए स्वयं बन्धन में आ गया था।

त्यागे सत्त्वनिधिः कुर्यान्न प्रत्युपकृतिस्पृहाम् ।
कर्णः कुण्डलदानेऽमूत्कलुषः शक्तियाच्ञया ।। ६ ।।

नासेव्यसेवया दद्याद्दैवाधीने धनेधियम् ।
भीष्मद्रोणादयो याताः क्षयं दुर्योधनाश्रयात् ।। ७ ।।

परप्राणपरित्राणपरः कारुण्यवान्भवेत् ।
मांसं कपोतरक्षायै स्वं श्येनाय ददौ शिबिः ।। ८ ।।

विद्योद्योगी गतोद्वेगः सेवया तोषयेद्गुरुम् ।
गुरुसेवापरः सेहे कायक्लेशदशां कचः ।। ९ ।।

भक्तं भक्तं हितं रक्तं निर्दोषं न परित्यजेत् ।
रामस्त्यक्त्वा सतीं सीतां शोकशल्यातुरोऽभवत् ।। १० ।।

अल्पमप्यवमन्येत न शत्रुं बलदर्पतः ।
रामेण रामः शिशुना ब्राह्मण्यदययोज्झितः ।। ११ ।।

अत्युन्नतपदारूढः पूज्यान्नैवावमानयेत् ।
नहुषः शक्रतामेत्य च्युतो ऽगस्त्यावमाननात् ।। १२ ।।

संधिं विधाय रिपुणा न निःशङ्कः सुखी भवेत् ।
संधिं कृत्वावधीदिन्द्रोवृत्रं निःशङ्कमानसम् ।। १३ ।।

६. सत्त्वगुणशील व्यक्ति को चाहिए कि वह दान में प्रत्युपकार की इच्छा न रखे। जिसे मैं दान दे रहा हूँ वह मुझे इसके बदले कुछ देगा ऐसी भावना सत्त्वनिधि को नहीं रखनी चाहिए। कुण्डलों (और कवच) का दान करने वाला कर्ण शक्ति अस्त्र की याचना के कारश कलुषित वन गया (शुद्ध दानशूर न रहा)।

७. धन प्राप्ति दैवाधीन है, इसलिये अयोग्य पुरुष की सेवा से धन प्राप्त करने की वुद्धि न रखनी चाहिये। दुर्योधन का आश्रय करने के कारण भीष्म, द्रोण आदि का विनाश हुआ।

८. मनुष्य को दूसरे के प्राणों की रक्षा करने में तत्पर एवं दयालु रहना चाहिये। शिवि राजा ने कपोत को वचाने के लिये अपना (स्वशीर का) मांस दिया था।

९. विद्या प्राप्ति के प्रयत्न में मन को खिन्न किये विना सेवा से गुरु को प्रसन्न करना चाहिये। कचने गुरु की सेवा में मग्न रहकर शरीर की कष्टकारी स्थिति को भी सह लिया था।

१०. पूज्य वुद्धि रखने वाले, सेवक, हितकारी स्नेही और दोष रहित स्वजन का त्याग नहीं करना चाहिये। सती सीता का त्याग करने से राम को शोक कंटक से पीड़ित होना पड़ा।

११. वल के गर्व से छोटे शत्रु की भी उपेक्षा न करनी चाहिए। किशोरावस्था वाले बालक दशरथी राम ने जामदग्न्य राम को, वह ब्राह्मण था, इसलिए दया करके छोड़ दिया।

१२. अत्यंत उन्नत पद (स्थान) मिलने पर भी पूज्य व्यक्तियों का अपमान न करना चाहिये। इन्द्र पद प्राप्त करने पर नहुष ने अगस्त्य मुनि का अपमान किया था। इसलिए नहुष इन्द्र पद से च्युत हुआ।

१३. शत्रु के साथ संधि करने के बाद भी उससे सतर्क न रहने वाला कभी सुखी नहीं होता। इन्द्र ने वृत्र के साथ संधि करने के बाद भी उसे मार डाला (और सुखी हुआ) क्योंकि वृत्र इन्द्र के प्रति मन से निःशङ्क था।

हितोपदेशं श्रुत्वा तु कुर्वीत च यथोचितम् ।
विदुरोक्तमकृत्वा तु शोच्योऽभूत्कौरवेश्वरः ।। १४ ।।

बह्वन्नाशनलोभेन रोगी मन्दरुचिर्भवेत् ।
प्रभूताज्यभुजो जाड्यं दहनस्याप्यजायत ।। १५ ।।

यत्नेन शोषयेद्दोषान्न तु तीव्रव्रतैस्तनुम् ।
तपसा कुम्भकर्णोऽभून्नित्यनिद्राविचेतनः ।। १६ ।।

स्थिरताशां न बध्नीयाद्भुवि भावेषु भाविषु ।
रामो रघुः शिबिः पाण्डुः क्व गतास्ते नराधिपाः ? ।। १७ ।।

न तीव्रदीर्घवैराणां मन्युं मनसि रोपयेत् ।
कोपेनापातयन्नन्दं चाणक्यः सप्तभिर्दिनैः ।। १८ ।।

गुरुमाराधयेद्भक्त्या विद्याविनयसाधनम् ।
रामाय प्रददौ तुष्टो विश्वामित्रोऽस्त्रमण्डलम् ।। १९ ।।

साधयेद्धर्मकामार्थान्परस्परमबाधकान् ।
त्रिवर्गसाधना भूपा बभूवुः सगरादयः ।। २० ।।

स्वकुलान्न्यूनतां नेच्छेत्तुल्यः स्यादथवाधिकः ।
सोत्कर्षेऽपि रघोर्वंशे रामोऽभूत्स्वकुलाधिकः ।। २१ ।।

१४. हित कारी उपदेश सुनकर उसके अनुसार उचित आचरण करना चाहिए। कुरुराज दुर्योधन ने विदुर का हित बचन न माना इससे वह शोचनीय स्थिति में आ पड़ा।

१५. बहुत आहार खाने के लोभ से मनुष्य रोगी और मंद पाचन शक्ति वाला होता है। (राजसूय यज्ञ में) अग्नि की भी बहुत घी का आहार करने पर ज्वलनशक्ति मंद हो गई थी।

१६. प्रयत्नपूर्वक दोषों को क्षीण करना चाहिए, न कि कठोर व्रतों से शरीर को। कठोर तपस्या के कारण कुम्भकर्ण सदा निद्रा से चेतन हीन बन गया।

१७. इस संसार में उत्पन्न पदार्थों में स्थिरता की आशा नहीं करनी चाहिए। राम, रघु, शिवि, पाण्डु जैसे सम्राट् वसुधाधिप कहाँ गए ? (उनका कोई पता नहीं है।)

१८. जिनकी वैर भावना तीव्र और दीर्घकाल रहने वाली हो, ऐसे व्यक्ति के मन में जिससे क्रोध उत्पन्न हो, वैसा काम नहीं करना चाहिए। चाणक्य ने क्रोध से सात ही दिनों में नन्द का पतन किया।

१९. विद्या और अनुशासन के साधनभूत गुरु को भक्तिपूर्वक प्रसन्न करना चाहिए। (राम की सेवा वृत्ति से) संतुष्ट विश्वामित्र ने राम को समग्र अस्त्र विद्या सिखायी।

२०. धर्म, अर्थ और काम इन पुरुषार्थों का ऐसे सेवन करना चाहिए कि ये एक दूसरे के क्षेत्र में बाधा न डालें। सगर आदि राजा तीनों पुरुषार्थों का यथार्थ पालन करने से समस्त पृथ्वी के अच्छे शासक हुए।

२१. अपनी कुल परम्परा से कभी न्यून होने की इच्छा नहीं करनी चाहिए किन्तु समान या अधिक बनने का इच्छुक होना चाहिए। रघुराजा का वंश बड़ा उन्नत था तथापि राम अपने कुल से अधिक हुए।

अरागभोगसुभगः स्यात्प्रसक्तविरक्तधीः ।
राज्ये जनकराजोऽभून्निर्लेपोऽम्भसि पद्मवत् ॥ २२ ॥

बन्धूनां वारयेद्वैरं नैकपक्षाश्रयो भवेत् ।
कुरुपाण्डवसङ्ग्रामे युयुधे न हलायुधः ॥ २३ ॥

परोपकारं संसारसारं कुर्वीत सत्त्ववान् ।
निवधे भगवान्बुद्धः सर्वसत्त्वोद्धृतौ धियम् ॥ २४ ॥

अन्ते संतोषदं विष्णुं स्मरेद्धन्तारमापदाम् ।
शरतल्पगतो भीष्मः सस्मार गरुडध्वजम् ॥ २५ ॥

२२. आसक्तिरहित विषयोपभोग करने के कारण सुन्दर और भाग्यशाली व्यक्ति को विषयों के प्रति विरागयुक्त बुद्धिवाला होना चाहिए। राजा जनक राज्य करते हुए भी राज्य सुख में उसी तरह निर्लिप्त थे जैसे पानी में रहने पर भी कमल पानी से अलिप्त रहता है।

२३. स्वजनों के आपसी वैर को रोकना चाहिए, किसी एक का पक्ष न लेना चाहिए। कौरव पांडवों के युद्ध में हलधर (बलराम) लड़े नहीं।

२६. शक्तिशाली मनुष्य को परोपकार करना चाहिए क्योंकि परोपकार ही इस असार संसार का सार है। भगवान् बुद्ध ने सभी प्राणियों के उद्धार में मन लगाया।

२५. जीवन के अंतकाल में संतोष देने वाले और आपत्तियों का नाश करने वाले विष्णु का स्मरण करना चाहिए। बाणशय्या पर लेटे भीष्म ने गरुड़ ध्वज विष्णु का स्मरण किया था।

अन्योक्तिकलाप

ये दस पद्य पंडिराज जगन्नाथ के भामिनीविलास नामक मुक्तक-संग्रह के प्रास्ताविक विलास विभाग से उद्धृत किये गये हैं। पंडितराज के जीवन का उत्तम काल मुगल सम्राट शाहजहाँ के दरबार में दिल्ली में व्यतीत हुआ।

जगन्नाथ की कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। उनमें स्तोत्रकाव्य: जैसे गंगालहरी, सुधालहरी, अमृतलहरी, करुणालहरी तथा लक्ष्मीलहरी; प्रशस्तिकाव्य; जैसे जगदाभरण, आसफविलास; एवं मुक्तकसंग्रह: जैसे भामिनीविलास मुख्य हैं। उनका रसगंगाधर अलंकार शास्त्र का अतिप्रशस्त ग्रन्थ है।

भामिनीविलास एक रमणीय और उपदेशात्मक मुक्तकसंग्रह है। वह (१) प्रास्ताविकविलास, (२) श्रृंगारविलास, (३) करुणाविलास और (४) शान्तविलास नामक चार प्रकरणों में विभक्त है।

प्रस्तुत पद्य प्रास्ताविक विलास से लिये गए हैं। प्रास्ताविक विलास में आनन्ददायक, उपदेश प्रधान अप्रस्तुत प्रशंसायें या अन्योक्तियाँ हैं। विविध मानवीय परिस्थिति की सूक्ष्मेक्षिका, कवि की बड़ी पैनी और वैविध्यपूर्ण है। ऐसा पद्य प्रास्ताविक विलास में विरल ही होगा, जिसमें मधुर रूप से काव्यात्मक शैली में मित्रसंमित या कान्तासम्मित उपदेश न होगा।

अन्योक्तिकलापः

दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डाः करटिनः
करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीलाः खलु मृगाः ।
इदानीं लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखानां पुनरयं
नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन्मृगपतिः ॥ १ ॥

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्-
परागसुरभीकृते सपदि यस्य यातं वयः ।
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले
मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्तताम् ॥ २ ॥

अन्योक्तिकलाप

१. मद जल के कारण मलिन गंडस्थल वाले मत्तगज दूर दिशाओं में (चिंघाड़ते) सुनाई दे रहे हैं। हथिनियाँ (स्त्री होने के कारण) दया के पात्र हैं। अन्य मृग (पशु) समान पराक्रम वाले नहीं हैं। अतः उन पर पराक्रम दिखाना भी योग्य नहीं। तो अब मृगराज सिंह अपने तीक्ष्ण अग्र वाले नखों का कौशल किस पर प्रगट करे ?

अन्योक्ति : बड़े-बड़े दिग्गज पंडित पराजय के भय से दूर चले गये। विदुषियाँ हैं, पर उनसे विवाद नहीं किया जा सकता, वे तो दया के पात्र हैं, छोटे-छोटे पंडित हैं किन्तु वे समकक्ष विद्वत्ता वाले नहीं। तो अब यह पंडितराज अपने पांडित्य का कौशल कहाँ दिखाये ?

२. पूर्वकाल में पूर्णप्रफुल्ल कमलसमूहों में से गिरते हुए पुष्परज से सुगन्धित मानस सरोवर में जिसकी आयु आनन्दपूर्वक शीघ्रता से व्यतीत हुई वह राजहंस कुल का अग्रणी (श्रेष्ठ हंस) अब इकट्ठे हुए अनेक मेंढकों से भरे हुए छोटी तलैया के जल में कहो कैसे रह सकेगा ?

अन्योक्ति : राजहंसों के समान उत्तम कुल जात, विवेक गुणसम्पन्न पुरुष, जिसका पूर्वपद सुख-वैभव में बीता, अब वह विवेकशून्य असंस्कृत लोगों के मध्य कैसे जी सकता है ? कितनी शोचनीय बात है यह !

अयि दलदरविन्द स्यन्दमानं मरन्दं
तव किमपि लिहन्तो मञ्जु गुञ्जन्तु भृङ्गाः ।
दिशि दिशि निरपेक्षस्तावकीनं विवृण्वन्
परिमलमयमन्यो बान्धवो गन्धवाहः ॥ ३ ॥

समुपागतवति दैवादवहेलां कुटज मधुकरे मागाः ।
मकरन्दतुन्दिलानामरविन्दानामयं महामान्यः ॥ ४ ।

तावत्कोकिलविरसान्यापय दिवसान्वनान्तरे निवसन् ।
यावन्मिलदलिमालः कोऽपि रसालः समुल्लसति ॥ ५ ॥

३. ओ विकसते हुए कमल, बहते हुए तुम्हारे पुष्परस को चाटते हुए ये भ्रमर भले ही कुछ मधुर गुंजार करें, किन्तु कोई अपेक्षा न रखते हुए तुम्हारे सौरभ को सर्व दिशाओं में फैलाने वाला यह गंधवाही वायु तो तुम्हारा कुछ और ही प्रकार का हितकारी बन्धु है।

अन्योक्ति : हे उदीयमान धनिक, चापलूसी करने वाले अनेक लोग तुम्हारे विपुल वैभव का भले ही उपयोग करें, किन्तु वे तुम्हारे यथार्थ हितैषी वन्धु नहीं है। तुम्हारा सच्चा बन्धु है वह सत्कवि है जो तुम्हारे वैभव की कोई अपेक्षा न रखकर भी तुम्हारे गुणों को कविता के द्वारा चारों ओर फैलाता है।

४. हे कुटज वृक्ष दैवयोग से तुम्हारे पास (पुष्परस लेने) यह मधुरस बनाने वाला भ्रमर आया है ऐसी स्थिति में उसकी अवहेलना मत करो, इसे दुत्कारो मत, क्योंकि पुष्परस से सुपूर्ण उदरवाले कमलों का भी यह अत्यन्त माननीय है।

अन्योक्ति : हे सामान्य वैभव वाले मनुष्य, जिसकी विद्वत्ता और कर्मण्यता महान् है ऐसा मनीषी कवि सहायतार्थ तुम्हारे पास आया है। उसकी योग्यता पहचानो यह कोई क्षुद्रयाचक नहीं है। महान् धन-वैभवी लोगों से यह मनीषी सम्मानित हैं।

५. हे कोयल, जिसके चारों ओर भौंरों की मालायें इकट्ठी हो रही हैं ऐसा कोई रसपूर्ण आम्रवृक्ष मंजरिओं से जब तक उत्फुल्ल नहीं बनता, तब तक किसी और वन में रहकर इन रसहीन दिनों को जैसे-तैसे काटो।

अन्योक्ति : हे मधुर काव्य करने वाले कविजन, यहाँ कोई उत्तम गुणग्राही नहीं है। अतः कठिनाई के ये दिन जैसे तैसे कहीं जाकर बिताओ और किसी वैभवशाली गुणानुरागी के प्राप्त होने की राह देखो।

कमलिनि मलिनीकरोषि चेतः
किमिति बकैरवहेलितानभिज्ञैः ।
परिणतमकरन्दमामिकास्ते जगति
भवन्तु चिरायुषो मिलिन्दाः ॥ ६ ॥

नितरां नीचोऽस्मीति त्वं खेदं कूप मा कदापि कृथाः ।
अत्यन्तसरसहृदयो यतः परेषां गुणगृहीतासि ॥ ७ ॥

येनामन्दमरन्दे बलदरविन्दे विनाग्यनायिषत ।
कुटजे खलु तेनेहा तेने हा मधुकरेण कथम् ॥ ८ ॥

६. हे कमलिनी (कमललता), तुम्हारे गुणों को न जानने वाले बगुलों से अपमानित होने पर मन को क्यों दुःखी करती हो ? तुम्हारे परिपक्व पुष्परस (के स्वाद) का मर्म जानने वाले भ्रमर जगत में दीर्घायु हों !

अन्योक्ति— हे गुणवती विदुषी, तुम्हारी विद्वत्ता को न जानने वाले सफेदपोश (बड़प्पन का दिखावा करने वाले) लोग तुम्हारा अपमान भी करें तो इससे दुःखी मत हो। ये तो रत्न को कोड़ी समझने वाले लोग हैं। परन्तु जगत में ऐसे लोग भी हैं जो तुम्हारी विद्वत्ता को, कवित्व को खूब अच्छी तरह समझते और आदर करते हैं। ऐसे गुणग्राही लोग दीर्घजीवी हों।

७. हे कूप (कूआँ), "मैं तो बहुत नीचा हूँ" ऐसा सोचकर तू कभी दुःख मत करना। क्योंकि तुम्हारा हृदय अत्यन्त सरस (जलपूर्ण) है और तुम औरों के गुणों का ग्रहण करके ही जल देते हो कूप गुणग्राही है। गुण (रस्सी) वाले को ही वह जल देता है।

अन्योक्ति—अतिसामान्य कुल में जन्मे हुए हे गुणग्राही, अपने सामान्य कुल के कारण दुःखी मत हो। तेरा हृदय उदार और गुणवान् है और तुम गुणग्राही हो दूसरों के गुण की कदर करते हो अपनाते हो। इस लिए तुम महान् हो।

८. बड़े दुख की बात है, जिस भ्रमर ने प्रचुर विकसित रसवाले कमल में रहकर इतने दिन बिताये, वह भ्रमर कुटज-जैसे क्षुद्र पुष्प के लिए इच्छा कैसे कर सका ?

अन्योक्ति— वैभव और गुणों से युक्त सपत्नी के साथ इतने दिन रहने के बाद अतृप्त और अस्थिर चित्त मनुष्य अत्यल्प गुण वाली स्त्री को प्राप्त करने की इच्छा करता है यह बड़े दुःख की बात है।

अयि मलयज महिमायं कस्य गिरामस्तु विषयस्ते ।
उद्गिरतो यद्गरलं फणिनः पुष्णासि परिमलोद्गारैः ।। ९ ।।

नीरक्षीरविवेके हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत् ।
विश्वस्मिन्नधुनान्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः ।। १० ।।

९. मलय पर्वत में होने वाले हे चंदनवृक्ष ! विष उगलने वाले फणिधरों को भी तुम प्रचुर सुगन्ध देकर पालते पोसते हो तुम्हारे इस बड़प्पन का वर्णन (प्रशंसा) कौन कर सकता है ?

अन्योक्ति—हे महागुणवान् उदारपुरुष औरों के लिए भयानक लोगों को भी तुम उदारतावश पोसते हो यह तुम्हारा बड़प्पन ऐसा है जिसकी प्रशंसा में वाणी का अपव्यय कौन करेगा ?

१०. हे हंस यदि तुम ही पानी और दूध को अलग करने में आलस्य करोगे तो अब इस संसार में इस तुम्हारे कुलव्रत का पालन और कौन करेगा ?

अन्योक्ति—गुण अवगुण, भले बुरे का विवेक कर दिखाना विवेकी विद्वानों का काम है। अगर वे ही यह काम न करेंगे तो और कौन कर सकता है ? क्योंकि यह तो उनका कुलव्रत है। जो इस कुल में नहीं जनमा वह यह काम नहीं कर सकता। समीक्षा की प्रतिभा रखनेवाले को गुण दोष प्रगट करने में आलस्य करने से गुणों में वृद्धि नहीं होती और दोषों का सुधार नहीं होता।

टिप्पणी

१. दिगन्ते श्रूयन्ते इत्यादि—यहाँ पडितराज जगन्नाथ अन्योक्ति के द्वारा अपने को सिंह एवं और विद्वानों को पराजय के भय से दूर भागे हुए मत्तगजों के समान दिखाकर अपनी अपराजेय स्थिति सूचित करते हैं। प्रास्ताविक विलास के इस पहिले ही श्लोक में सुन्दर अप्रस्तुत प्रशंसा या अन्योक्ति है। हथिनियाँ स्त्री जाति हैं। विद्वान स्त्रियाँ स्त्री जाति होने के कारण दया के पात्र हैं। और अन्य विद्वान तो क्षुद्र हैं वे क्या पण्डितराज का सामना कर सकेंगे ? यह सूचितार्थ बड़ा रमणीय है।

२. यहाँ सारांश यह है कि उत्तम स्थिति भोगने के बाद हीन स्थिति में आ जाना मृत्यु के समान हैं।

३. **गन्धवाह**—वायु जो पुष्पों के सुगन्ध को ले जाता है। किसी आशा के बिना गुणों को फैलाने वाला ही सच्चा स्वजन है। धनिकों के धन का केवल उपभोग ही करने वाले और निरपेक्ष भाव से गुणवान् के गुणों को फैलाने वालों में यहाँ भेद दिखाया गया है।

४. सारांश यह कि जिनका बड़े लोग भी आदर करते हैं वे सबके आदरभाजन होते हैं। तुन्दिल=बड़ी तोंदवाला, अर्थात् रसपूर्ण।

५. यहाँ किसी गुणवान् पुरुष को जो अभी कुछ आपत्ति में आ पड़ा है, यह परोक्ष सूचन है कि वह किसी उदार पुरुष के आने तक धैर्य धरे।

६. मूर्खों के द्वारा अपमानित होने पर मन नहीं बिगाड़ना चाहिए, क्योंकि वे गुणों के पारखी नहीं होते। बक=बगुला, दुष्टपुरुष।

७. कुआँ यद्यपि नीचा-गहरा होता है तथापि उसका एक महान गुण यह है कि उसके हृदय में—गहराई में—मधुर जल है। अत्यन्त सरस हृदय का यही अर्थ है। लोग पानी निकालने के लिए रस्सी से बाँध कर घड़ा कुओं में डालते हैं। गुण=रस्सी। गुण ग्रहण करने का प्रस्तुत अर्थ है दूसरों के गुणों की सराहना करना।

८. उत्तम व्यक्तियों के सहवास में रहनेवाला अधमों का सहवास पसंद करे इससे निंद्य और क्या हो सकता है? तेनेहा का सन्धि विच्छेद तेन+ईहा='उसके द्वारा इच्छा' ऐसा है।

९. चन्दन वृक्ष के प्रति कटाक्षोक्ति द्वारा किसी उदार पुरुष के अविवेक पर कटाक्ष है।

१०. गुणवान् सज्जनों को अपने कर्त्तव्य के प्रति उपेक्षा या आलस्य नहीं रहना चाहिए। ऐसी उपेक्षा समाज के सर्वनाश का कारण बन सकती है।

भारत-भू-मातृस्तोत्रम्

प्रवेशक

जननी एवं जन्मभूमि के लिए प्रेम प्राणिमात्र की सहज वृत्ति है विशेषकर मानव के लिए। हमारे द्रष्टा एवं मनीषियों ने वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय चारित्र्य तथा गुणों पर जोर दिया है और तदनुकूल शिक्षा प्रणाली का निर्माण किया है। इन गुणों में से एक गुण जो प्रसंगानुकूल है वह है विशाल राष्ट्रीय दृष्टि का स्वीकार और संकुचित प्रादेशिक दृष्टि का त्याग।

प्रस्तुत मातृभूमिस्तोत्र किसी अज्ञात कवि की रचना है। पंडित रामतेज पाण्डेय के स्तोत्रसंग्रह में यह संगृहीत है। स्तोत्र के प्रथम सात पद्यों में भारतमाता का विशाल सजीव चित्र प्रस्तुत है, जिसमें भारत के विभिन्न भूभागों के नाम पिरोये गये हैं। भारत यहाँ एक सांस्कृतिक इकाई है। यह भारत प्राचीन ऋषियों का एवं मध्यकालीन तथा आधुनिक संतों का एवं शहीदों का भारत है। अगले चार पद्यों में उन महापुरुषों एवं महिलाओं का उल्लेख है जिन्हें आधुनिक राजकीय स्थिति एवं परिस्थिति की गणना न करते हुए सब स्वदेशी और विदेशी लोग आदर्श एवं सम्मान भाजन मानते हैं। ग्यारहवें पद्य से कवि कुछ आश्चर्य कारक ढंग से इस देश की भूमि के कुछ तत्त्वों का वर्णन करता है। अंतिम पद्यों में मातृभूमि के लिए गाढ़ प्रेमभाव एवं कृतज्ञता प्रगट की गई है।

भारतमाता का यह संस्कृत स्तोत्र काव्य, संकुचित राजकीय दृष्टि से ऊपर उठाकर हमारे दृष्टिकोण को विशाल एवं सुपुष्ट करता है। इस विशाल भूखंड के लोग संकुचित विचारसरणी के परिणामस्वरूप विभाजित होते जाते हैं और आध्यात्म दृष्ट्या प्रगतिशील शान्तिप्रिय जनता के हित को जिससे कि उनकी सुरक्षा संभव है दुर्बल बनाते हैं। यह स्तोत्र उनको उचित मार्गदर्शन दे सकता है। यह स्तोत्र इस लिए भी महत्त्वपूर्ण है कि कदाचित रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बंकिम चंद्र एवं इकबाल के काव्य से पूर्व यह रचा गया है।

भारतभूमातृस्तोत्रम् ।

बन्दे मातरमव्यक्तां व्यक्तां च जननीं पराम् ।
दीनोऽहं बालकः कांक्षे सेवां जन्मनि जन्मनि ॥ १ ॥

सागरालिङ्गितां लक्ष्मीं जगज्जनककन्यकाम् ।
स्थितां हिमनगस्याङ्के पार्वतीमपरां भजे ॥ २ ॥

शुभ्रं धर्मध्वजं मातुः किंवा राशीकृतं यशः ।
रौप्यं वा मुकुटं दिव्यं वन्देऽहं तं हिमालयम् ॥ ३ ॥

जाह्नवी-यमुना-सिन्धु-ब्रह्मपुत्र-शतद्रुभिः ।
भूदेवीं पञ्चधाराभिः सततं सोऽभिषिञ्चति ॥ ४ ॥

नगाधिपं धारयन्तीं मस्तके रत्नमद्वयम् ।
काश्मीरं च ललाटे भ्रू-मध्ये नेपालिकां शुभाम् ॥ ५॥

नर्मदा-तपती-विन्ध्य-सप्तपीठक-मेखलाम् ।
पूर्वापराचलोरूं च मलयं पदपीठके ॥ ६ ॥

मध्यदेशोदरे गुप्तानक्षयान् धनसञ्चयान् ।
तां देवीं भारतीं वन्दे मातरं विश्वपूजिताम् ॥ ७ ॥

भारत-भू-मातृस्तोत्रम्

१. हमारी परम जननी, व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों प्रकार के स्वरूपों वाली माता भारती को मैं प्रणाम करता हूं। मैं तुम्हारा नम्र बालक जन्म-जन्मान्तर में तुम्हारी सेवा करने की आकांक्षा रखता हूं।

२. समुद्र से आलिङ्गित लक्ष्मी, जगत के स्रष्टा प्रजापति की कन्या सरस्वती एवं हिमाचल के उत्संग में स्थित पार्वती-जैसी भारती माता की मैं स्तुति करता हूं।

३. मैं हिमालय पर्वत की वन्दना करता हूं जो माता भारती का धर्म-ध्वज के समान है, अथवा माता के यश का पुंज है अथवा भारत माता के रौप्यमुकुट के रूप में है।

४. वह हिमालय गंगा, यमुना, सिन्धु, ब्रह्मपुत्र, सतलज इन पांच नदियों की जलधाराओं से सतत मातृभूमि भारती देवी का अभिषेक करता है।

५. मस्तक पर अद्वितीय रत्नरूप नगेन्द्र हिमालय को धारण करने वाली, ललाट देश पर काश्मीर देश एवं भौहों के मध्य में नेपाल को धारण करने वाली...

६. नर्मदा तपती (ताप्ती) नदियाँ विन्ध्य पर्वत एवं सतपुड़ा (सह्याद्रि) पर्वत रूप उरुप्रदेश (जांघ) वाली, मलयाचल को पादपीठ के स्थान पर धारण करने वाली...

७. मध्यदेश रूप उदर में छिपे हुए अक्षय धन भंडारों को धारण करने वाली, समस्त विश्व के द्वारा पूजित, उस देवी भारती को मैं प्रणाम करता हूं।

द्रष्टारश्चोपनिषदां गीताशास्त्रप्रवर्तकः ।
षड्दर्शनप्रवक्तारो भगवान् पाणिनिर्मुनिः ॥ ८ ॥

बाल्मीकिश्च तथा व्यासः कालिदासो महाकविः ।
आर्यभट्टश्च भरतः शङ्करोऽद्वैतकेसरी ॥ ९ ॥

भीष्मरामार्जुना वीरा नृपौ रामयुधिष्ठिरौ ।
सावित्री द्रौपदी सीता दमयन्ती च तारका ॥ १० ॥

महार्घाण्यद्वितीयानि रत्नान्येतानि भूतले ।
जननी भारती तेषां रत्नगर्भा कथं न सा ॥ ११ ॥

वसुन्धरा रत्नगर्भा रसा विश्वम्भरा क्षमा ।
सर्वंसहा स्थिरा चैव भारती भूसुकन्यका ॥ १२ ॥

रत्नाकरः स्वयं भक्त्या मुक्तोपायन-पूर्वकम् ।
चरणान् क्षालयत्यस्या अतन्द्रश्च दिवानिशम् ॥ १३ ॥

कैलासद्वारकाधीशौ रामेश्वरपुरीश्वरौ ।
द्वारपाला बभूवुश्च सौभाग्यं मातुरद्भुतम् ॥ १४ ॥

पोषयन्ति सदा मातुः पर्वतस्तनमण्डलात् ।
निःसृताश्च पयोधाराः सन्ततीनां परम्पराः ॥ १५ ॥

पुत्रवत्सलता मातुरगाधा हरिणा स्वयम् ।
अवतीर्योदरे सोढं गर्भ-दुःखं पुनः पुनः ॥ १६ ॥

८. उपनिषदों के द्रष्टा ऋषिगण, गीतारूपशास्त्र के प्रवर्तक श्रीकृष्ण, छहों दर्शनों के प्रवर्तक कपिलादि मुनि, भगवान् पाणिनि मुनि (जो व्याकरण शास्त्र के प्रवर्तक हैं)...

९. (आदिकवि) वाल्मीकि, वेदव्यास, महान् कवि कालिदास, (महान् ज्योतिषी) आर्यभट्ट, भरत मुनि, अद्वैत सिद्धान्त के सिंह सम शंकराचार्य...

१०. वीरवर भीष्म, राम (दाशरथी व जामदग्न्य), अर्जुन; बलराम और युधिष्ठिर ये राजा, सावित्री द्रौपदी, सीता, दमयन्ती, तारा...

११. ये सब इस पृथ्वी के अत्यन्त मूल्यवान और अनुपम रत्न हैं। भारती देवी इन सबकी जननी (माता) हैं । ऐसी माता रत्नगर्भा क्यों न कही जाए ?

१२. पृथ्वी की यह सुपुत्री भारती उत्तम धन धारण करने वाली, उदर में (गहराई में) रत्नों को रखने वाली, जगत का पोषण करने वाली, प्राणियों के दोषों को क्षमा करने वाली, सबको सहने वाली और स्थिर-दृढ़ है।

१३. रत्नों के भंडार स्वरूप स्वयं सागर रातदिन आलस्यरहित होकर भक्तिपूर्वक मोतियों का भेंट देकर इस भारती माता के चरणों को धोता है।

१४. माता भारती का सौभाग्य अद्भुत है क्योंकि कैलासनाथ शंकर, द्वारका के अधिप श्री विष्णु, रामेश्वर एवं जगन्नाथ पुरी के स्वामी भगवान जगन्नाथ इस माता के (चारों दिशा के चार) द्वारपाल हैं।

१५. माता भारती के पर्वत रूप स्तनों से निकली हुई पयोधारायें (नदियों की जलधारायें) हमेशा से भारतीय जनता की संतति परंपराओं को पुष्ट करती आ रही हैं ।

१६. भारती माता की अपने पुत्रों पर इतनी प्रीति है कि स्वयं भगवान विष्णु ने बार बार यहाँ अवतार लेकर इसके गर्भ में रहने का दुःख सहा।

मरणे जन्मकाले च मुमूर्षुर्नवबालकः ।
त्वदङ्के चैव संशेते अहोवत्सलता तव ॥ १७ ॥

पद्मालया त्वमेवासि त्वमेव च सरस्वती ।
अन्नपूर्णा त्वमेवासि त्वमेव च शिवा सती ॥ १८ ॥

त्वद्वृक्षाः कल्पवृक्षाश्च चिन्तामणि-शिलाः शिला ।
त्वद्वनं नन्दनं साक्षात् साक्षात् त्वं स्वर्गदेवता ॥ १९ ॥

प्रतिजन्मनि मे चित्तं वित्तं देहश्च सन्ततिः ।
त्वत्सेवानिरतानि स्यु र्माता त्वं करुणामयी ॥ २० ॥

न मे वाञ्छास्ति यशसि विद्वत्त्वे न च वा सुखे ।
प्रभुत्वे नैव वा स्वर्गे मोक्षेऽप्यानन्ददायके ॥ २१ ॥

परं च भारते जन्म मानवस्य च वा पशोः ।
विहंगस्य च वा जन्तोर्वृक्षपाषाणयो-रपि ॥ २२ ॥

निरन्तरं भवतु मे मातृसेवांशभाग्यभाक् ।
एषैव वाञ्छा हृदये साक्षी सर्वात्मकः प्रभुः ॥ २३ ॥

१७. हे माता कितना विशाल है तुम्हारा वात्सल्य कि मरण के समय मरणासन्न मनुष्य तुम्हारी गोद में सोता है और जन्म के समय नवजात बालक (भी) तुम्हारे अंक में सोता है।

१८. तुम्ही कमलवनवासिनी लक्ष्मी हो तुम्ही सरस्वती हो तुम्हीं भगवान शिव की अर्धांगिनी अन्नपूर्णा हो।

१९. तुम्हारे वृक्ष कल्पवृक्ष के समान हैं। तुम्हारे सारे पत्थर चिन्तामणि रत्न हैं। इन्द्र का उद्यान नन्दनवन तुम्हारावन है। तुम शरीरधारिणी (साक्षात्) स्वर्ग की देवी हो।

२०. तुम बड़ी दयालु माता हो। मेरी यही इच्छा है कि हर एक जन्म में मेरा मन, धन, शरीर और मेरे पुत्र-पौत्र आदि तुम्हारी सेवा में मग्न रहें।

२१. यश प्राप्त करने की मेरी इच्छा नहीं, विद्वत्ता, सुख, अधिकार प्राप्त करने की भी मेरी इच्छा नहीं, स्वर्ग अथवा आनन्ददायक मोक्ष पाने की मेरी इच्छा नहीं है।

२२. किन्तु मेरा जन्म भारत में हो, चाहे वह जन्म मनुष्य के या पशु के या पक्षी के या क्षुद्र जंतु के वृक्ष के या पत्थर के रूप में हो।

२३. मेरे मन में यही एक इच्छा है कि मेरा जीवन भारत माता की सेवा में निरन्तर भाग लेकर अपने आपको सौभाग्यशाली समझे। सब के हृदय में निवास करने वाले प्रभु इस बात के साक्षी हैं।

शब्दार्थ

अव्यक्त =जो दृश्यमान नहीं

व्यक्त =जो दृश्यमान है

दीनः =नम्र गरीब

नगः =पर्वत

अपरा =अन्या,

धर्मध्वजः =धर्म का प्रतीक झंडा

राशीकृतम् =इकट्ठा किया हुआ

रौप्यम् =चाँदी

जाह्नवी =गंगा नदी जो राजर्षि जह्नु की पुत्री मानी जाती है

शतद्रुः =सतलज नदी

अद्वयम् =अनुपम, अद्वितीय

नेपालिक =पवित्र तिलक चिह्न, नेपाल देश

द्रष्टारः =वेद मन्त्रों का दर्शन करने वाले ऋषि

षट्दर्शन-प्रवक्तारः =छहों दर्शनों के प्रधान प्रतिपादकः सांख्य के कपिल, योग के पतञ्जलि, न्याय के गौतम, वैशेषिक के कणाद, मीमांसा के जैमिनि एवं वेदान्त दर्शन के प्रवक्ता बादरायण व्यास

रत्नगर्भा =अपने उदर में (खज़ाना में) रत्नों को धारण करने वाली

रसा =जलपूर्ण, रसपूर्ण

क्षमा =शक्तिमती, पृथ्वी

सर्वंसहा =सबको सहने वाली

सन्तति =सन्तान, पुत्रपौत्रादि

परम्परा =वंश की पीढ़ी, मान्यता या अनुष्ठान का सातत्य

गर्भदुःखम् =गर्भ में रहने का दुःख

मुमूर्षुः= मरने की इच्छा वाला, मरणासन्न

मोक्षः =मुक्ति, जन्ममरण के चक्र से छटकारा

द्वितीयो भागः

गद्यमन्दाकिनी

सुबुद्धि की कहानी

विद्यापति ठक्कुर की कृति 'पुरुष परीक्षा' में चौवालीस कहानियाँ हैं। विद्यापति ईसा की १५वीं शती में मिथिला के राजा शिवसिंह के राज्यकाल में हुए। वे मिथिला के वड़े प्रसिद्ध कवि थे। उनके पिता थे गणपति और पितामह जयदत्त।

पुरुष परीक्षा बाल शिक्षार्थ रची हुई कृति है। इसमें समाज एवं राजद्वार विषयक नीति की कहानियाँ हैं। इस ग्रन्थ की रचना पञ्चतंत्र की शैली पर की गई है, किन्तु इन कहानियों के पात्र सब मनुष्य हैं। इन में से कुछ ऐतिहासिक भी हैं। इन कहानियों में विद्यापति ने हितोपदेश एवं पञ्चतंत्र की अच्छी वातों का समावेश किया है। ये कहानियाँ राजा शिव सिंह की आज्ञा से लिखी गई थीं। यद्यपि इस कृति के पूर्ण होने के पूर्व ही राजा का अवसान हो गया था।

यहाँ पसन्द की गई कहानी एक राजमंत्री की तीक्ष्ण बुद्धि की कहानी है जिसका नाम "सुबुद्धि कथा" है। एक राजा का बुद्धिमान् मंत्री अपनी कुशाग्र बुद्धि से एक ऐसे प्रश्न का हल ढूंढ निकालता है जिसने खुद बुद्धिमान राजा को भी हैरान कर दिया था। प्रश्न एक मित्र राजा द्वारा मंत्री की बुद्धि परीक्षा के लिए ही पूछा गया था। मित्र के प्रश्न का उत्तर तो देना ही था। मंत्री इस परीक्षा में सफल हुआ और मित्र राजा को भी संतोष हुआ।

सुबुद्धिकथा

आसीन्मिथिलायां हरसिंहदेवो नाम राजा। तस्य गणेश्वरो नाम मन्त्री बभूव। तस्य च नानाविधां सुबुद्धितां श्रुत्वा देवगिरे रामदेवो राजा परमसाश्चर्यश्चिन्तयामास। कथं मर्त्यलोकवासिनोऽपि बृहस्पतेरिव मनीषा श्रूयते। भवतु निरूपयामि तावत्। तदनन्तरं स राजा हरसिंहदेवेन राज्ञा समं मैत्रीमाचरत्। तदनन्तरमुभयविगुपचारेण सौहार्दे समुत्पन्ने स राजा रामदेवो हरसिंहदेवं लिखितद्वारा ययाचे यन्मह्यं द्वौ पुरुषौ प्रेषयितव्यौ, एकः सुधीः, द्वितीयो मूर्खश्चेति। तदालोक्य लेखनं पठन् स राजा चिन्तयामास यत्—मित्रवचनमपरिहार्यं कं सुधियं कं च मूर्खं प्रेषयिष्यामीति। चिन्ताव्याकुलितं राजानं दृष्ट्वा मन्त्रिराज उवाच। देव किमिति चिन्ता कृताऽस्ति। राजोवाच। मित्रनियोगानिर्वाहः परमलज्जास्थानम्। ततस्तत्र को वा सुधीः को वा मूर्खः प्रेषयितव्य इति चिन्तयामि। मन्त्रिराज उवाच। न कश्चित् प्रेषयितव्यः। आः शान्तं पापम्। मित्रप्रार्थनायाः भङ्गो जायते। मन्त्रिराजो ब्रूते मित्राभ्यर्थनायाः सिद्धिरेव भवति। यतो रामदेवो महाराजस्तस्य देवगिरिराज्ये किं वस्तु दुर्लभम्। कति पण्डिताः कति मूर्खा वा न सन्ति। तदितः प्रहितेन मूर्खेण पण्डितेन वा किं तस्य प्रयोजनम्। ततस्तर्कयामि स राजा परमविदग्धः कुतुकी च तथाविधपुरुषद्वयप्रार्थनाव्याजेन भवतो मन्त्रिणं मां च परीक्षते। यदहं मूर्खं पंडितं च परिचिनोमि न वेति। राजोवाच। तत् किं विधातुमुचितम्? मन्त्री ब्रूते

सुबुद्धि कथा

मिथिला नगर में हरसिंह देव नामक राजा था। गणेश्वर नामक उस राजा कर मंत्री था। उस मंत्री की उत्तम बुद्धि विषयक अनेक बातें सुन कर देव गिरि के राजा रामदेव को अत्यन्त आश्चर्य हुआ और उसने सोचा, "मनुष्य लोक में रहने वाले मर्त्य मनुष्य की भी प्रज्ञा बृहस्पति" के समान सुनी जाती है यह कैसे ? ठीक है देखें तो। तब उस राजा (रामदेव) ने राजा हरसिंह देव से मित्रता करना आरम्भ किया। फिर दोनों ओर ने शिष्टाचार होने के कारण जब अच्छी मैत्री हो गई तब राजा रामदेव ने पत्र लिखकर हरसिंह देव से प्रार्थना की कि उसे दो ऐसे पुरुष भेजे जायें जिनमें से एक उत्तम बुद्धि वाला हो और दूसरा मूर्ख हो। यह देख कर पत्र को (बार बार) पढ़ते हुए उस राजा ने सोचा, मित्र की मांग टाल नहीं सकते फिर किस सुबुद्धिमान् को और किस मूर्ख आदमी को भेजा जाए ? राजा को चिन्ता से व्याकुल देखकर प्रधानमंत्री ने कहा, "देव, क्यों चिन्ता कर रहे हैं ? राजा ने कहा, "मित्र का काम न बने यह तो बड़ी लज्जा की बात है। मैं चिन्ता यह कर रहा हूँ कि वहाँ किस सुबुद्धिमान् और किस मूर्ख को भेजा जाए ?" प्रधान मंत्री ने कहा, "किसी को भी न भेजा जाए" (राजा ने कहा) ऐसा न कहिए, इससे तो मित्र की अभ्यर्थना भंग हो जाएगी।" प्रधानमंत्री ने कहा, (इससे तो मित्र की अभ्यर्थना सिद्ध (सफल) ही होती है क्योंकि रामदेव तो बड़े राजा हैं। इनके देवगिरि राज्य में कौन सी वस्तु दुर्लभ है ? क्या वहाँ कई पंडित या कई मूर्ख नहीं है ? तब यहां से भेजे हुए पंडित या मूर्ख का उस राजा को क्या प्रयोजन है ? इसलिए मेरा तो अनुमान है कि वह बड़ा चतुर और कौतुक प्रिय राजा है इस प्रकार के दो पुरुषों की याचना के बहाने मेरी और आपकी परीक्षा कर रहा है कि मैं मूर्ख और पंडित को जानता हूँ या

देवेवमुत्तरं लिखितव्यं यत् सुधीरत्र राज्ये नास्ति न वा भवतोऽपि राज्ये लक्ष्यते स वाराणस्यामन्यत्र वा पुण्यतीर्थे वाऽनुसंधातव्यः । मूर्खस्तु सर्वत्रापि सुलभः किं तस्यावस्तुनः प्रस्थापनेन । राजोवाच । तर्हि तथा क्रियताम् । ततो राजमन्त्रिभ्यां परामृश्य रामदेवे राज्ञि तदुत्तरं लिखितम् । ततस्तदुत्तरं प्राप्य राजा रामदेवः परमपरितुष्टो बभूव ।

सुष्ठु उक्तं यत्—

मेधा च प्रतिभा चैव बुद्धिर्यस्य गरीयसी ।
सुबुद्धिरिति विख्यातः सन्देहे निर्णयक्षमः ॥

नहीं। राजा ने कहा, "तब क्या करना चाहिए ?" मंत्री ने कहा, "देव इस प्रकार का उत्तर लिख भेजिए कि इस राज्य में कोई सुबुद्धिमान् नहीं है और न आपके राज्य में भी दिखाई पड़ता है। अतः वाराणसी या अन्य किसी पवित्र तीर्थ में उसकी तलाश की जाए। मूर्ख तो सर्वत्र आसानी से मिलता है। ऐसी तुच्छ वस्तु के भेजने से क्या लाभ ?" राजा ने कहा 'ठीक है, तो ऐसा ही किया जाए।" फिर राजा एवं मंत्री ने मंत्रणा कर के ऐसा ही उत्तर रामदेव को भेजा। उस उत्तर के मिलने पर राजा राम-देव बड़े प्रसन्न हुए।

यह ठीक ही कहा है कि, "जिस की स्मृति शक्ति एवं नवरचना करने वाली प्रतिभा और बुद्धि महान हो उसे सुबुद्धि कहा जाता है। वही सन्देह होने पर निर्णय कर सकता है।

शब्दार्थ

मनीषा =बुद्धि

अपरिहार्यम्=जो टाला न जा सके

मित्रनियोगानिर्वाहः=मित्र के सौंपे हुए काम को पूरा न करना

प्रेषयितव्यः=भेजने योग्य, भेजना चाहिए

शान्तं पापम्=भगवान ऐसा न करे ! निषेध या खेद सूचक उद्गार

प्रहितेन=भेजे हुए व्यक्ति से (तृतीया विभक्ति का अर्थ)

परम विदग्धः=महान् पंडित, बड़ा चतुर

कुतुकी=कुतूहल वाला

परिचिनोमि=मैं ढूंढ निकाल सकता हूं।

अनुसंधातव्यः=ढूंढ निकालना चाहिए

निर्णयक्षमः=जो फैंसला कर सके, निर्णय करने में समर्थ।

मतिर्दोलायते सत्यं सतामपि खलोक्तिभिः

हितोपदेश पशु पक्षियों की कथा के रूप में प्राणियों की नीति-कथाओं का प्रसिद्ध संग्रह है। यह पञ्चतन्त्र का कुछ बदला हुआ रूप है। नारायण भट्ट (प्रायः ईस्वी ९००) हितोपदेश के रचयिता हैं। कर्ता ने प्रस्तावना में स्वयं कहा है कि यह कृति पञ्चतन्त्र एवं अन्य सरूप कृतियों पर आधारित है। तथापि इस कृति का आयोजन स्वतन्त्र है। हितोपदेश का कथासंग्रह मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह एवं सन्धि इन चार प्रकरणों में विभक्त है। क्रीड़ाशील बालकों को शिक्षा देने के एकमात्र हेतु से सरल प्रसन्न रसप्रद शैली में पक्षियों एवं पशुओं की उपदेश कथाओं के साहित्यिक माध्यम में इस कृति की रचना हुई है।

'सन्धि' नामक चतुर्थ प्रकरण से ली गई इस कहानी का उपदेश है कि दुष्ट मनुष्य से भलाई की आशा न करनी चाहिए, उसका विश्वास न करना चाहिए एवं उसके वंचनात्मक व्यवहार में फंसना न चाहिए। दुष्ट की उक्तियाँ भले लोगों की बुद्धि को भी विचलित कर देती है।

मत्तिर्दोलायते सत्यं सतामपि खलोक्तिभिः

अस्ति कस्मिंश्चिद् वनोद्देशे मदोत्कटो नाम सिंहः। तस्य सेवकास्त्रयः, काको व्याघ्रो जम्बूकश्च। अथ तैर्भ्रमद्भिः सार्थाद्भ्रष्टः कश्चिद्दुष्टो दृष्टः, पृष्टश्च कुतो भवानागतः। स चात्मवृत्तान्तमकथयत्। ततस्तैर्नीत्वा सिंहेऽसौ समर्पितः। तेनाभयवाचं दत्त्वा चित्रकर्ण इति नाम कृत्वा स्थापितः।

अथ कदाचित्सिंहस्य शरीरवैकल्याद् भूरिवृष्टिकारणाच्चाहारमलभमानास्ते व्यग्रा बभूवुः। ततस्तैरालोचितम्—चित्रकर्णमेव यथा स्वामी व्यापादयति तथानुष्ठीयताम्। किमनेन कण्टकभुजा। व्याघ्र उवाच—स्वामिनाभयवाचं दत्त्वानुगृहीतस्तत्कथमेवं सम्भवति। काको ब्रूते—इह समये परिक्षीणः स्वामी पापमपि करिष्यति। यतः—

त्यजेत्क्षुधार्ता महिला स्वपुत्रं
खादेत्क्षुधार्ता भुजगी स्वमण्डम्।
बुभुक्षितः किं न करोति पापं
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति॥

अन्यच्च—

मत्तः प्रमत्तश्चोन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः।
लुब्धो भीरुस्त्वरायुक्तः कामुकश्च न धर्मवित्॥

सचमुच सत्पुरुषों की बुद्धि भी दुर्जनों के कहने पर संदेह में पड़ जाती है।

किसी एक वनप्रदेश में मदोत्कट नामक सिंह रहा करता था। उसके तीन सेवक थे—कौवा, बाघ और सियार। कभी घूमते-घूमते उन्होंने टोली से बिछुड़े हुए किसी ऊँट को देखा और पूछा "कहाँ से आ रहे हैं आप ?"। उस (ऊँट) ने अपना वृत्तांत कहा। फिर उन्होंने उसे ले जाकर सिंह को सौंपा। उसने उसे अभय वचन दिया और चित्रकर्ण नाम रखकर अपने पास रखा।

कुछ समय बीत जाने पर कभी ऐसा समय आया जब सिंह को शरीर का स्वास्थ्य ठीक न होने से शिकार मारने में असमर्थता एवं बहुत वृष्टि के कारण आहार न मिला तो वे व्याकुल हो उठे। फिर उन्होंने सोचा, "मालिक, चित्रकर्ण को ही मारें ऐसा कुछ करना चाहिए। क्या लाभ है इस कांटे खाने वाले से ?" बाघ ने कहा, "यह कैसे संभव है ? मालिक ने तो उसे अभय वचन देने की कृपा है। कौवे ने कहा, "इस समय स्वामी (सिंह) बड़े दुर्बल हो गये हैं (इसलिए) पाप भी करेंगे। क्योंकि, भूखी स्त्री अपने पुत्र को भी छोड़ देती है; भूखी सांपिन अपना ही अण्डा खाती है। भूखा मनुष्य कौन सा पाप नहीं करता ? (धन शरीर आदि से) दुर्बल मनुष्य निर्दय होते हैं।' और भी—'मतवाला, भूल करने वाला, पागल, थका हुआ, क्रोध से भरा, भूखा, लोभी, डरपोक, उतावला और कामी मनुष्य, इन सबको धर्म का भान नहीं रहता।"

इति संचिन्त्य सर्वे सिंहान्तिकं जग्मुः। सिंहेनोक्तम्—आहाराय किंचित्प्राप्तम् ? तैरुक्तम्—यत्नादपि न प्राप्तं किंचित्। सिंहेनोक्तम्—कोऽधुना जीवनोपायः ? काको वदति—देव स्वाधीनाहारपरित्यागात्सर्वनाशोऽयमुपस्थितः। सिंहेनोक्तम्—अत्राहारः कः स्वाधीनः ? काकः कर्णे कथयति—चित्रकर्णः इति। सिंहो भूमिं स्पृष्ट्वा कर्णौ स्पृशति। अभयवाचं दत्त्वा धृतोऽयमस्माभिः। तत्कथमेवं संभवति ? तथा च—

न भूप्रदानं न सुवर्णदानं न गोप्रदानं न तथान्नदानम्।
यथा वदन्तीह महाप्रदानं सर्वेषु दानेष्वभयप्रदानम्॥

अन्यच्च—

सर्वकामसमृद्धस्य अश्वमेधस्य यत्फलम्।
तत्फलं लभ्यते सम्यग्रक्षिते शरणागते॥

काको ब्रूते—नासौ स्वामिना व्यापादयितव्यः। किंत्वस्माभिरेव तथा कर्तव्यं यथासौ स्वदेहदानमङ्गीकरोति। सिंहस्तच्छ्रुत्वा तूष्णीं स्थितः।

ततोऽसौ लब्धावकाशः कूटं कृत्वा सर्वानादाय सिंहान्तिकं गतः। अथ काकेनोक्तम्—देव, यत्नादप्याहारो न प्राप्तः। अनेकोपवासखिन्नः स्वामी। तदिदानीं मदीयमांसमुपभुज्यताम्। यतः—

स्वामिमूला भवन्त्येव सर्वाः प्रकृतयः खलु।
समूलेषु हि वृक्षेषु प्रयत्नः सफलो नृणाम्॥

सिंहेनोक्तम्—भद्र, वरं प्राणपरित्यागः, न पुनरीदृशि कर्मणि प्रवृत्तिः। जम्बुकेनापि तथोक्तम्। ततः सिंहेनोक्तम्—मैवम्। अथ व्याघ्रेणोक्तम्—मद्देहेन जीवतु स्वामी। सिंहेनोक्तम्—न कदाचिदेवमुचितम्। अथ चित्रकर्णोऽपि जातविश्वासस्तथैवात्मदानमाह। तद्वदन्नेवासौ व्याघ्रेण कुक्षिं विदार्य व्यापादितः सर्वैर्भक्षितश्च॥

इस प्रकार विचार करके वे सब सिंह के पास गये। सिंह ने कहा, "क्या कुछ खाने के लिए मिला?" उन्होंने कहा, "प्रयत्न करने पर भी कुछ न मिला।" सिंह ने कहा, "तो अब जीने का क्या उपाय है?" कौवे ने कहा, "महाराज, आहार तो अपने पास ही है किन्तु उस स्वाधीन आहार का त्याग करने से यह सर्वनाश का समय आ पड़ा है।" सिंह ने पूछा, "यहाँ कौन सा स्वाधीन आहार हमारे पास है?" कौवे ने कान में कहा, "चित्रकर्ण"। सिंह ने भूमि छूकर कान छुए (तौबा किया) और कहा, "उसे तो हमने अभय वचन देकर अपनाया है, तब यह कैसे हो सकता है? और भी—सर्व प्रकार के दानों में भूमि दान को या सुवर्ण दान को अथवा गाय के दान को या अन्न दान को उतना महान नहीं कहा गया है जितना अभयदान को महान गिना गया है। और भी—

सर्व कामनाओं को सफल करने वाले अश्वमेघ का जो फल कहा गया है, वह फल शरणागत की भली प्रकार से रक्षा करने से मिलता है।" कौवे ने कहा इसे आप नहीं मारेंगे; किन्तु हम ही ऐसा करेंगे कि वह (स्वयं) अपना शरीर देना स्वीकार करेगा।" यह सुनकर सिंह मौन रहा।

फिर वह कौवा मौका पाकर षड्यंत्र रचकर, सबको लेकर सिंह के पास गया। फिर कौवे ने कहा, "देव, प्रयत्न करने पर भी आहार नहीं मिला। आप अनेक दिनों से उपवास के कारण थके हुए हैं, खिन्न हैं, तो अब मेरा मांस खाइए। क्योंकि समस्त प्रजाओं का मूल राजा ही है। वृक्षों के मूल (सुरक्षित) हों तो मनुष्यों का (वृक्ष संवर्धन का) प्रयत्न सफल होता है।"

सिंह ने कहा, "भाई, प्राण त्याग करना अच्छा, किन्तु ऐसा काम करना अच्छा नहीं।" सियार ने भी इसी प्रकार कहा, तब सिंह ने कहा, "यह नहीं हो सकता। फिर बाघ ने कहा, "हे स्वामी, आप मेरे शरीर (के भोजन) से जीवित रहिए।" सिंह ने कहा, "यह किसी हालत में उचित नहीं है।" फिर चित्रकर्ण ने भी विश्वास हो जाने से उसी प्रकार अपना शरीर देने की बात कही। वह यह बोल ही रहा था कि बाघ ने उसका पेट फाड़कर उसे मार डाला और सब मिलकर उसे खा गए।

परस्पर विवाद करने वाले शत्रु भी हमारा हित करते हैं

पंचतंत्र में संगृहीत कथायें लोककंठ में सुरक्षित प्राचीन प्राणि-कथायें एवं लोककथायें हैं। विष्णु शर्मा ने तो यहां उनका संग्रह मात्र किया है। इन वोधक कहानियों को सुनाकर विष्णु शर्मा ने उन अशिक्षित राजकुमारों का चित्त वहला कर समुचित उदाहरणों द्वारा उन्हें राजनीति की शिक्षा दी थी।

पञ्चतन्त्र यह नाम सार्थक है। क्योंकि उसमें मित्रभेद, मित्र-संप्राप्ति, काकोलूकीय, लब्धप्रणाश और अपरीक्षित कारित्त्व नामक पांच तंत्रों का संग्रह है। प्रत्येक तंत्र में एक मुख्य कहानी है। मुख्य कहानी के अंतर्गत अन्य कहानियां गूंथी गई हैं। पांच तंत्र भी परस्पर सम्बद्ध हैं।

प्रस्तुत कथा काकोलूकीयम् नामक तृतीय तंत्र से ली गई है। काकोलूकीयम् में कौवों और उल्लुओं के वैर की कथा है। प्रस्तुत उप कथा में एक ब्राह्मण अपने को तथा अपने दो बैलों को ब्रह्मराक्षस एवं एक चोर से कैसे बचाता है, यह बताया गया है। इस कहानी का यह उपदेश है कि यदि हमारे शत्रु परस्पर लड़ते हों तो वह परिस्थिति हमारे लिए लाभप्रद होती है।

शत्रवोहि हितायैव विविदन्ते परस्परम्

अस्ति कस्यचिद् दरिद्रब्राह्मणस्य प्रतिग्रहलब्धमाबालभावाद् घृततैललवणयवसयोग्याशनसंवर्धितं सुपुष्टं गोयुगलम्। तच्च दृष्ट्वा चौरः कश्चिदेवं चिन्तितवान्। अद्यैव तदपहरिष्यामीति। प्रथमप्रदोषसमये च गन्तुमारब्धः। गच्छंश्च केनाप्यविज्ञातेन स्कन्दप्रवेशसंश्लिष्टः। अथ तेन भयात् पृष्टः। को भवानिति। स च सत्यवचनमाह। नक्तंचरोऽहं ब्रह्मराक्षसः। भवानपि कथयतु। कस्त्वमिति। सोऽब्रवीत्। अहं चौरः। तेन च पुनः पृष्टः। क्व गच्छति भवानिति। तेनोक्तम्। कस्यचिद् ब्राह्मणस्य गोयुगमपहर्तुमिच्छामि। त्वं पुनः कुतो गच्छसि? अथ विज्ञातप्रत्ययो ब्रह्मराक्षसोऽप्याह। अहमपि तमेव ब्राह्मणं ग्रहीतुं प्रवृत्तः। अथ तौ द्वावपि तत्र गत्वैकान्ते कालमन्वेषयन्तौ स्थितौ। प्रसुप्ते च ब्राह्मणे ब्रह्मराक्षसः प्रथमं तद्ग्रहणाय प्रवृत्तः संश्लिष्टश्चौरेणाभिहितः। नैष न्यायः। गोयुगे मयापहृते पश्चाद् ग्रहीष्यसीति। सोऽब्रवीत्। अयमप्यनयः। कदाचिदयं गोशब्देन प्रतिबुध्यते। ततो मे व्यर्थः स्यादागम इति। चौरेणोक्तम्। यदि त्वया गृहीतोऽयं कलकलं कृत्वोत्थास्यति ततः सर्वेऽप्युत्थास्यन्ति। तदाहमपि न शक्नोमि गोयुगमपहर्तुम्। अतः प्रथमं मयापहृते गोयुगे पश्चात्त्वया ब्राह्मणो भक्षयितव्यः। एवं तयोः परस्परं विवादमनयोर्वैरं समुत्पन्नमहंपूर्विकया च युगपद् ब्राह्मणः प्रतिबुद्धः। चौरस्तावदवोचत्। ब्राह्मण! ब्रह्मराक्षसोऽयं त्वां ग्रहीतुमिच्छति। ब्रह्मराक्षसोऽप्याह। चौरोऽयं ते गोयुगलमपहर्तुमिच्छति। एवं श्रुत्वोत्थाय ब्राह्मणः सावधानो भूत्वेष्टदेवतामन्त्रध्यानेनात्मानं राक्षसादुदगूर्णलगुडेन च चौराद्गोयुगं ररक्ष। ततस्तावुभावपि चौरराक्षसावपयाताविति।

शत्रु भी यदि आपस में लड़ते हों तो इससे हमारा लाभ ही होता

किसी ब्राह्मण को दान में दो बैल मिले थे। बचपन ही से घी, तेल, नमक, घास आदि योग्य आहार से पोसे हुए वे बैल अच्छे खासे तगड़े थे। इन्हें देखकर किसी चोर ने सोचा, "आज ही इन्हें उड़ा ले जाऊँगा।" रात के पहिले प्रहर को वह जाने को निकला। जाते हुए उसका कंधा किसी अज्ञात (सत्त्व) ने पकड़ लिया। भय के मारे उसने पूछा, 'कौन हैं आप ? उस सत्त्व ने सच बता दिया कि मैं निशाचर ब्रह्म राक्षस हूं। अब तुम बताओ (कौन हो तुम ?) उसने कहा "मैं चोर हूं। तब फिर उस ब्रह्मराक्षस ने पूछा, "आप कहां जा रहे हैं।" उस चोर ने कहा, "मैं किसी एक ब्राह्मण के दो बैल चुराना चाहता हूं किन्तु तुम कहां जा रहे हो ?" उसकी बात जानकर विश्वस्त होकर ब्रह्मराक्षस ने भी कहा, "मैं भी उसी ब्राह्मण को पकड़ने जा रहा हूँ। अब वे दोनों वहां जाकर एकान्त में मौके की ताक मैं ठहरे। ब्राह्मण के सो जाने पर पहले ब्रह्म-राक्षस ने उसे पकड़ने का कार्य आरंभ किया। बगल में ठहरे चोर ने कहा, यह न्याय नहीं। पहले बैलों को मैं उड़ा ले जाऊँगा। बाद में तुम ब्राह्मण को पकड़ना। उस ब्रह्मराक्षस ने भी कहा, यह भी अन्याय है। कदाचित यह ब्राह्मण बैलों की आवाज से जाग जाए तब मेरा यहां आना निष्फल हो जायेगा।" तब चोर ने कहा, अगर तुम इसे पकड़ोगे तो यह शोर मचाते हुए जाग जायेगा। तब फिर सब लोग जाग जायेंगे। फिर मैं बैलों को नहीं चुरा सकूंगा। इसलिए जब मैं पहले बैलों को ले जाऊँ तब बाद में तुम ब्राह्मण को खाना। इस प्रकार वाद-विवाद करते हुए उन दोनों में "मैं पहले, मैं पहले" ऐसा विरोध हो गया। उसी समय ब्राह्मण जाग उठा। तब चोर ने कहा, "अरे ब्राह्मण यह ब्रह्मराक्षस तुम्हें पकड़ना चाहता है। ब्रह्मराक्षस ने भी कहा, "यह चोर तुम्हारे दोनों बैलों को चुराना चाहता है।" यह सुनकर ब्राह्मण ने उठकर सावधानी से इष्टदेव के मन्त्र का ध्यानपूर्वक जप करके अपने आपको ब्रह्मराक्षस से बचाया और लाठी उठा कर चोर से अपने बैलों को बचाया। तब वे चोर और ब्रह्मराक्षस दोनों भाग निकले।

शब्दार्थ

प्रतिग्रहलब्धम्=दान में प्राप्त।

आबालभावात्=बाल्यकाल से लेकर।

यवसः =भूसा।

स्कंधप्रदेशसंश्लिष्टः=कंधा पकड़ा।

अपहर्तुमिच्छामि=चुरा लेना चाहता हूं।

विज्ञात प्रत्ययः=आपस में परिचय होने से विश्वस्त

अनयः=न्याय विरुद्ध, नीति विरुद्ध।

अहंपूर्विकया='मैं प्रथम' इस प्रकार की स्पर्धा के कारण।

प्रतिबुद्धः=जागा हुआ, जाग उठा।

उद्गूर्णलगुडेन=लाठी उठाकर।

अपनी मर्यादा के कारण ही सत्पुरुष आचरण की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते

आर्य शूर की जातक माला जो 'बोधिसत्वावदान माला' के नाम से भी सुख्यात हैं, बोधिसत्त्व के सदाचरणों को गूंथ कर रची हुई सुन्दर पुष्पमाला है। इसमें परंपरागत बत्तीस कथाओं का संग्रह है। सरल गद्य में रचित प्रत्येक जातक कथा, धार्मिक एवं नैतिक दृष्टान्तों से भरी हुई है। इन कथाओं में बुद्ध के जीवन एवं सिद्धान्तों का प्रतीतिकर दिग्दर्शन है। बुद्ध के उपदेशों का यह अत्यन्त प्रामाणिक संग्रह है।

आर्यशर की जीवनी के विषय में सामग्री अत्यल्प है। केवल परंपरागत लोककथाओं में कुछ सामग्री मिलती है। तदनुसार आर्यशूर एक श्रद्धावान् बौद्ध, प्रतिभावान पंडित और बुद्ध सिद्धान्तों का निष्ठावान् और सूझ बूझ वाला प्रचारक था। उसके मतानुसार बुद्ध धर्म सच्चा मानवतावादी एवं असामान्य नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का प्रस्थापक था।

प्रस्तुत अंश जातकमाला की 'ब्राह्मणजातक' नामक बारहवीं कथा है। इस कहानी में ऐसे अध्यापक का चित्र है जिसने अपने छात्रों की नीतिमत्ता की परीक्षा करने के लिए अपनी धनहीनता का दुःख रोकर छात्रों को इस विषय में कुछ करने के लिए उकसाया और धन प्राप्त करने के लिए उनको चोरी या लूटपाट करने तक को प्रेरित किया था। सब छात्रों ने तो आचार्य के शब्दों को सच्चा माना किन्तु बोधिसत्त्व यह मानने को तैयार न था क्योंकि यह बात उनकी अन्तरात्मा के विरुद्ध थी। गुरु ने कहा था कि यदि कोई देखता न हो तो चोरी करने से कलंक नहीं लगता। बोधिसत्त्व का विचार था कि और कोई जहां नहीं है वहां भी उसकी आत्मा उसे देखती है। इस प्रकार उसकी सामाजिक एवं व्यक्तिगत नीति भावना की विजय हुई। गुरु ने उसकी भूरि प्रशंसा की और कहा कि वह सब छात्रों में श्रेष्ठ है।

आत्मलज्जयैव सत्पुरुषा नाचारवेलां लङ्घयति

आत्मलज्जयैव सत्पुरुषा नाचारवेलां लङ्घयन्ति तद्यथानुश्रूयते ।

बोधिसत्त्वः किल कस्मिंश्चिदनुपक्रुष्टगोत्रचारित्रे स्वधर्मानुवृत्ति-प्रकाशयशसि विनयाचारश्लाघिनि महति ब्राह्मणकुले जन्मपरिग्रहं चकार । स यथाक्रमं गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मादिभिः कृत-संस्कारक्रमो वेदाध्ययननिमित्तं श्रुताभिजनाचारसम्पन्ने गुरौ प्रतिवसति स्म ।

तस्य श्रुतग्रहणधारणपाटवं च
भक्त्यन्वयश्च सततं स्वकुलप्रसिद्धः ॥
पूर्वे वयस्यपि शमाभरणा स्थितिश्च
प्रेमप्रसादसुमुखं गुरुमस्य चक्रुः ॥ १ ॥

वशीकरणमन्त्रा हि नित्यमव्याहता गुणाः ।
अपि द्वेषाग्नितप्तानां किं पुनः स्वस्थचेतसाम् ॥ २ ॥

अथ तस्याध्यापकः सर्वेषामेव शिष्याणां शीलपरीक्षानिमित्तं स्वा-ध्यायविश्रामकालेष्वात्मनो दारिद्र्यदुःखान्यभीक्ष्णमुपवर्णयामास ।

अपनी मर्यादा के कारण ही सत्पुरुष आचरण का उल्लंघन नहीं करते

सत्पुरुष आत्म लज्जा के ही कारण मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते। इस विषय में ऐसी परम्परागत कथा है।

बोधि सत्त्व ने निन्दा रहित, उत्तम चारित्र्यशील, अपने धर्मपालन के कारण उज्ज्वल यश वाले विनय एवं सदाचार के कारण प्रशस्त श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल मैं जन्म लिया था। वह क्रमशः गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्मादि के द्वारा संस्कारयुक्त होकर वेदाध्ययन के लिए शास्त्रज्ञ एवं कुलीन गुरु के पास रहता था।

उसके शास्त्र ग्रहण में एवं स्मरण में कौशल्य, अपने कुल की प्रसिद्धि के अनुसार भक्ति का अनुसरण छोटी उम्र में भी जितेन्द्रिय-शालिता आदि गुणों से गुरु उसके प्रति स्नेह और प्रसन्नता से पक्षपाती बने हुए थे।

अक्षुण्ण ऐसे गुण सचमुच द्वेष की आग से तप्त लोगों को भी आकृष्ट करते हैं तो फिर स्वस्थ चित्त वालों की तो बात ही क्या ?

गुरु ने शिष्यों के चारित्र्य की परीक्षा करने के हेतु अध्ययन के विश्राम काल में अपने दारिद्र्य के दुःखों का बार बार वर्णन करना प्रारम्भ किया।

अथ ते शिष्याः प्रतोदसंचोदिता इव सवश्वा गुरुस्नेहात् समुपजात-संवेगाः सम्पन्नतरं प्रभूततरं च भैक्षमुपसंहरन्ति स्म । स तानुवाच । अलमनेनात्रभवतां परिश्रमेण । न भैक्षोपहाराः कस्यचिद् दारिद्र्यक्षामतां क्षपयन्ति । अस्मत्परिक्लेशामर्षिभिस्तु भवद्भिरयमेव यत्नो धनाहरणं प्रति युक्तः कर्त्तुं स्यात् ।

शिष्या ऊचुः । किं करिष्यामो मन्दभाग्या वयं यदेतावान्नः शक्ति-प्रयामः ।

अध्यापक उवाच । सन्त्यन्येपि शास्त्रपरिदृष्टा धनार्जनोपायाः । जरानिष्पीतसामर्थ्यास्तु वयमयोग्यरूपास्तत्प्रतिपत्तौ । शिष्या ऊचुः । वय-मुपाध्याय ! जरयानुपहतपराक्रमाः । तद्यदि नस्तेषां शास्त्रविहिताना-मुपायानां प्रतिपत्तिसहतां मन्यसे तदुच्यताम् । यावदध्यापनपरिश्रमस्या-नृण्यं ते गच्छाम इति । अध्यापक उवाच । तरुणैरपि व्यवसायाशिथिल-हृदयैर्दुरभिसम्भवाः खल्वेवंविधा धनार्जनोपायाः । यदि त्वत्रभवतां निर्बन्धः, तच्छ्रूयतां साधु कतम एको धनोपार्जनक्रमः ।

आपद्धर्मः स्तेयमिष्टं द्विजाना-
मापच्चान्त्या निःस्वता नाम लोके ।
तस्मादभोज्यं स्वं परेषामदुष्टैः
सर्वं चैतद् ब्राह्मणानां स्वमेव ॥

यह सुनकर चाबुक से प्रेरित अच्छे घोड़ों की तरह उत्साहित होकर गुरु के प्रति स्नेह के कारण अनुकम्पायुक्त वे शिष्य अत्यधिक मात्रा में अच्छी भिक्षा लाने लगे। गुरु ने उन शिष्यों को कहा—इस विषय में आप लोग इतना कष्ट न करें। भीख की भेंट किसी की दरिद्रता जनित क्षीणता दूर नहीं कर सकती। किन्तु यदि तुम सब शिष्य मेरी इस दरिद्रता से दुःखी हो तो तुम्हें मेरे लिए धन लाने का यह प्रयत्न करना चाहिए।

शिष्य समुदाय ने कहा—हम आपके लिए क्या कर सकते हैं? हम सब अभागे हैं। हमारी शक्ति केवल इतनी ही है।

अध्यापक ने कहा—धन प्राप्ति के अन्य शास्त्रोक्त उपाय हैं किन्तु बुढ़ापे के कारण शारीरिक शक्ति नष्ट हो जाने से हम उन उपायों को काम में नहीं ला सकते हैं। सभी शिष्य कहने लगे—

गुरुजी, हमारी शक्ति वृद्धत्व से क्षीण नहीं हुई है। अतः आप यदि उचित समझते हैं कि हम उन उपायों का प्रयोग करने में समर्थ हैं तो वे उपाय हमें बताइए जिससे हम आपके अध्यापनजनित परिश्रम के ऋण से मुक्त हो सकें।

अध्यापक ने कहा—तरुण लोग भी यदि प्रयत्न करने में दृढ़ निश्चयी न हों तो इस प्रकार के धनार्जन के उपाय को अमल में लाना उनके लिए भी कठिन है। यदि तुम्हारा आग्रह है तो सुनो, उनमें से धन-प्राप्ति का कौन सा एक उपाय, अच्छा है वह तुम्हें बताता हूँ।

ब्राह्मणों के लिए आपत्ति काल में चोरी करना बुरा नहीं हैं। जगत् में दरिद्रता से बढ़कर कोई आपत्ति नहीं है। अतः अदुष्ट स्वभाव वाले सज्जन भी दूसरों का धन ऐंठते हैं। तथापि उन्हें दोष नहीं लगता। क्योंकि संसार का सारा धन ब्राह्मणों का ही है। इसीलिए ब्राह्मण भूसुर कहलाते हैं और उनके लिए कहा गया है कि "सर्वं स्वं ब्राह्मणो भुङ्क्ते-" ब्राह्मण जो धन उपयोग में लाता है वह उसका ही है।

कामं प्रसह्यापि धनानि हर्तुं
शक्तिर्भवेदेव भवद्विधानाम् ।
न त्वेष योगः स्वयशो हि रक्ष्यं
शून्येषु तस्माद् व्यवसेयमेव ॥

इति मुक्तप्रग्रहास्तेन ते छात्राः परममिति तत्तस्य वचनमयुक्तमपि युक्तमिव प्रत्यश्रौषुरन्यत्र बोधिसत्त्वात् ।

व्रीडावनतवदनस्तु बोधिसत्त्वो मृदु विनिश्वस्य तूष्णीमभूत् । अथ स तेषामध्यापको बोधिसत्त्वमवेक्ष्य तं विधिमनभिनन्दन्तमप्रतिक्रोशन्तं निविष्टगुणसम्भावनस्तस्तिन् महासत्त्वे किं नु खल्वयमप्यवसितत्वान्निःस्नेहतया वा मयि स्तेयं न प्रतिपद्यते उताधर्मसंशयेनेति समुत्पन्नविमर्शस्तत्स्वभावव्यक्तीकरणार्थं बोधिसत्त्वमुवाच ! भो महाब्राह्मण !

अमी द्विजा मद्व्यसनासहिष्णवः
समाश्रिता वीरमनुष्यपद्धतिम्।
भवाननुत्साहजडस्तु लक्ष्यते ।
न नूनमस्मद्व्यसनेन तप्यते ॥

अथ बोधिसत्त्वः ससम्भ्रमोऽभिवाद्योपाध्यायमुवाच—शान्तं पापम् । न खल्वहं निःस्नेहकठिनहृदयत्वादपरितप्यमानो गुरुदुःखैरेवमवस्थितः, किन्त्वसम्भवादुपाध्यायप्रदर्शितस्य क्रमस्य । न हि शक्यमदृश्यमानेन क्वचित् पापमाचरितुम् । कुतः । रहोऽनुपपत्तेः ।

तुम्हारे जैसे सशक्त लोगों के पास बलात् दूसरों से धन छीन लेने की शक्ति होती ही है। किन्तु प्रत्यक्ष रूप में ऐसा करना तुम्हारे लिए स्वयश की हानि का कारण बनेगा। अतः यह व्यवसाय एकान्त में (दूसरों की नजर बचाकर) करना चाहिए। जिससे अपयश (बदनामी) न हो (साँप भी मरे और लाठी भी न टूटे)।

इस प्रकार गुरु के द्वारा नियन्त्रणरूपी लगाम से मुक्त किए गए छात्रों ने गुरु के अयोग्य वचनों को भी योग्य समझकर स्वीकार किया। केवल बोधि सत्त्व ही एक उन शिष्यों में अपवाद था।

लज्जा से सिर झुका कर बोधि सत्त्व ने धीरे से निःश्वास लिया और चुप रहा। अब वह अध्यापक, उसको (बोधिसत्त्व को) अपनी सलाह का अनुमोदन नहीं करते हुए देखकर उसमें अच्छे गुणों की सम्भावना करता हुआ मन में ऐसा सोचने लगा कि यह महासत्त्व पूर्वोक्त व्यवसाय का आदी नहीं होने के कारण या मेरे प्रति स्नेह के अभाव के कारण चोरी के काम को स्वीकार नहीं करता, या इसे अधर्म मानता है। इसलिए वह निर्णय के लिए बोधिसत्त्व के स्वभाव को स्पष्टतः जानने के लिए उससे कहने लगा—

ओ महाब्राह्मण! ये मेरे ब्राह्मण शिष्य मेरी आपत्ति को नहीं सह सकते हैं। अतः ये पराक्रमी पुरुषों के मार्ग का आश्रय करने के लिए तैयार हैं। किन्तु तुम मुझे उत्साह रहित एवं जड़-सा दिखाई देते हो, शायद मेरी आपत्ति से तुम दुःखी नहीं हुए हो।

तब बोधि सत्त्व ने घबड़ा कर आचार्य को कहा—नहीं नहीं ऐसा नहीं है। मैं कठोर हृदयी नहीं हूँ। गुरु के दुःखों से असंतप्त भी नहीं हूँ। किन्तु गुरुजी के बताए हुए रास्ते पर चलना मेरे लिए असम्भव होने के कारण मैं ऐसी (आपके द्वारा निर्दिष्ट उत्साहहीन एवं जड़) स्थिति में हूं। अदृश्य रूप से पापाचार शक्य ही नहीं है, मनुष्य पाप करे और उसे कोई देखे नहीं यह सम्भव नहीं है। (अर्थात् आदमी जो कुछ करता है उसका कोई न कोई तो साक्षी होता ही है, ऐसा सोचकर पापाचरण करना ठीक नहीं है।) क्योंकि ऐसा एकान्त अशक्य है।

नास्ति लोके रहो नाम पापं कर्म प्रकुर्वतः ।
अदृश्यानि हि पश्यन्ति ननु भूतानि मानुषान् ॥

कृतात्मानश्च मुनयो दिव्योन्मिषितचक्षुषः ।
तानपश्यन् रहोमानी बालः पापे प्रवर्तते ॥

अहं पुनर्न पश्यामि शून्यं क्वचन किञ्चन ॥
यत्राप्यन्यं न पश्यामि न त्वशून्यं मयैव तत् ।

तदनेन कारणेनाहमेवं व्यवस्थित इति । अथ बोधिसत्त्वः समभिप्रसादितमनसमुपाध्यायमवेत्य पुनरुवाच ।

न चात्र मे निश्चयमेति मानसं
धनार्थमेवं प्रतरेद् भवानपि ।
अवेत्य को नाम गुणागुणान्तरं
गुणोपमर्दं धनमूल्यतां नयेत् ॥

स्वाभिप्रायं खलु निवेदयामि ।

कपालमादाय विवर्णवाससा
वरं द्विषद्वेश्मसमृद्धिरीक्षिता ।
व्यतीत्य लज्जां न तु धर्मवैशसे
सुरेन्द्रतार्थेऽप्युपसंहृतं मनः ॥

(पाप कर्म करने वाला सोचता है कि वह एकान्त में पाप कर रहा है परन्तु सचमुच कोई ऐसा एकान्त स्थान है ही नहीं। क्योंकि अदृश्य भौतिक हस्तियाँ (सत्तायें) आदमी को देखती ही रहती हैं।

(इसके अतिरिक्त) मुक्तात्मा महर्षि भी हैं, जिनकी दिव्य आँखें हमेशा खुली रहती हैं। उनको न देखते हुए मूर्ख मनुष्य ही एकान्त स्थान मानकर पापाचरण में प्रवृत्त होते हैं।

मैं कहीं भी कोई भी जगह रिक्त (खाली) नहीं देखता हूँ। जहाँ कोई अन्य नहीं होता है वहाँ मैं अपने आपको पाता हूँ।

जो पाप दूसरों से देखा जाता है या जो स्वयं के द्वारा दृष्ट (अवगत) हुआ हो इन दोनों में अपने आपके द्वारा दृष्ट पाप को अर्थात् जिस पाप का अनुभव खुद को हो उसको अधिक सुदृष्ट (देखा हुआ) मानना चाहिए।

इसी कारण से मैं ऐसा बना रहा। (मैं कथनानुसार अन्य साथियों की तरह प्रभावित नहीं हुआ) बोधिसत्त्व गुरुजी को प्रसन्नचित्त जानकर फिर कहने लगा—

यह बात मेरे मन में नहीं उतरती कि आप भी, मात्र धन के लिए इस प्रकार की प्रवञ्चना को अपनायेंगे। गुण और दोष के अन्तर को जानने वाला कौन ऐसा मनुष्य होगा जो गुणनाश को धन का मूल्य बनायेगा। गुण बहुत मूल्यवान् है उसे खोकर धन का अर्जन कोई विवेकशील व्यक्ति कैसे करेगा?

यह मैं मेरा अपना अभिप्राय आपसे निवेदन करता हूँ।

मलीन गेरुए कपड़े पहनकर, खोपड़ी (कपाल) लेकर दुश्मन के घर की समृद्धि देखना अच्छा है किन्तु लज्जा को छोड़कर, धर्म की हिंसा के द्वारा इन्द्रपद की प्राप्ति के लिए मन से भी प्रयत्न करना अच्छा नहीं है।

अथ तस्योपाध्यायः प्रहर्षविस्मयाक्षिप्तहृदय उत्थाप्यासनात् संपरिष्वज्यैनमुवाच-साधु साधु पुत्रक ! साधु साधु महाब्राह्मण ! प्रतिरूपमेतत् ते प्रशमालंकृतस्यास्य मेधाविकस्य ।

निमित्तमासाद्य यदेव किञ्चन
स्वधर्ममार्गं विसृजन्ति बालिशाः ।
तपःश्रुतज्ञानधनास्तु साधवो
न यान्ति कृच्छ्रे परमेऽपि विक्रियाम् ॥

त्वया कुलं सममलमभ्यलंकृतं
समुद्यता नभ इव शारदेन्दुना ।
नवार्थवत्सुचरितविश्रुतं श्रुतं
सुखोदयः सफलतया श्रमश्च मे ।

तदेवमात्मलज्जयैव सत्पुरुषा नाचारवेलां लङ्घयन्तीति ह्रीबलेनार्येण भवितव्यम् ॥

अब गुरुजी अत्यधिक प्रसन्न हुए । उनका हृदय आश्चर्य से भर गया । आसन से उठे और बोधिसत्त्व को गले लगाते हुए बोले—

बहुत खूब ! बहुत खूब ! वत्स ! बहुत अच्छा, बहुत अच्छा । ओ महाब्राह्मण यह तुम्हारे संयम से अलंकृत बुद्धि के अनुरूप है ।

मूर्ख छोटे से निमित्त से भी स्वधर्मभ्रष्ट एवं कर्तव्यभ्रष्ट हो जाते हैं और अपने धर्म के मार्ग को छोड़ देते हैं । किन्तु सज्जन तप, शास्त्र एवं ज्ञान से पूत होने के कारण बड़ी से बड़ी आपत्ति में भी विकार को नहीं प्राप्त होते हैं ।

उदीयमान शरच्चन्द्र, जैसे आकाश को उज्ज्वल बनाता है वैसे तूने भी अपने कुल को उज्ज्वल बनाया है । तुम्हारी विद्या सार्थक हुई है और चरित्र भी । मेरा सारा अध्यापनश्रम साफल्यप्राप्ति के कारण (तुझे पाकर) आनन्दजनक बन गया ।

इस प्रकार सत्पुरुष आत्मलज्जा के कारण ही अपनी आचार मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते हैं । अतः आर्यपुरुष को लज्जा रूपी बल रखना ही चाहिए ।

टिप्पणी

आत्मलज्जा =अपने स्वयं (खुद) की शर्म। आत्मनः लज्जा (ष. तत्पु.)।

आचारवेला =नैतिक मर्यादाओं का बन्धन।

अनुश्रूयते =ऐसा मुख परम्परा से सुना जाता है।

अनुपकृष्टतम् =अनिन्दित, निष्कलंक।

स्वधर्मानुवृत्तिप्रकाशयशसि=स्वधर्मस्य अनुवृत्तिः, स एव प्रकाशः, तद्युक्तं यशो यस्य, तस्मिन्। अपने धर्म का अनुसरण करना ही एक प्रकाश है। उस प्रकाशरूप यश वाले। अपने धर्मपालन रूप कार्य में चतुर।

जन्मपरिग्रहं चकार=जन्म धारण किया।

संस्कारक्रमः =गर्भाधानादि षोडश संस्कारों का क्रम।

वेदाध्ययननिमित्तम्—वेदों के अध्ययन के लिए बुद्ध ने अपने विद्यार्थी जीवन में वेदों का अभ्यास किया था। जिससे उसे शुभाशुभ का ज्ञान हुआ।

विश्रामकाले =विश्रान्ति के समय पर

प्रतोदः =चाबुक (पु.)

महाब्राह्मणः ="महान् ऐसा ब्राह्मण" कर्मधारय समास होता है। महत् शब्द का उपयोग हीनत्व के अर्थ में ब्राह्मण के साथ आता है अर्थात् महाब्राह्मण याने निकृष्ट ब्राह्मण जो अपना ब्राह्मणोचित कर्म नहीं करता है। किन्तु यहाँ आर्यशूर ने श्रेष्ठ अर्थ में 'महत्' पद का प्रयोग ब्राह्मण के साथ किया है। अतः महाब्राह्मण अर्थात् श्रेष्ठ ब्राह्मण।

ससंभ्रमम् =घबड़ाहट के साथ।

रहोमानी =अपने को एकान्त में है ऐसा मानने वाला। रहः-एकान्त।

पिता की मृत्यु पर श्रीहर्ष का शोक

कवि बाण का हर्षचरित जहाँ से यह गद्यभाग लिया गया है ऐतिहासिक चरितात्मक गद्यकाव्य है। यह आख्यायिका है। आख्यायिका इतिहासमूलक होती है। इसी कवि की कृति कादम्बरी कल्पनोत्थ कथा-काव्य है।

हर्षचरित में समकालीन इतिहास एवं संस्कृति का बड़ा ही रोचक वर्णन है। हर्षवर्धन के समय का यहाँ हूबहू वर्णन है। आरंभ में कवि बाण ने अपनी आत्मकथा लिखी है। हर्ष के इतिहास का आरम्भ उसके पूर्वपुरुष पुष्यभूति के वर्णन से शुरू होता है। बाण हर्ष का प्रिय मित्र था और हर्ष के वंश का इतिहास वह अच्छी तरह जानता था। हर्षचरित का कथावृत्त यथार्थ है। यहाँ के वर्णन बड़े रोचक हैं।

इस गद्यांश में पिता के मरण से हर्ष को जो शोक हुआ उसका हृदयस्पर्शी वर्णन है।

श्रीहर्षस्य पितृकृते शोकः

देवोऽपि हर्षः पुञ्जीभूतेन सकलेनेव जीवलोकेन लोकेन राजकुलसंबद्धेनाशेषेण शोकमूकेन परिवृत्तः, निर्व्यवधानायां धरण्यामुपविष्ट एव तां निशीथिनीं भीमरथीभीमामखिलां सराजको जजागार।

अजनि चास्य चेतसि—"ताते दूरीभूते संप्रत्येतावान्खलु जीवलोकः। लोकस्य भग्नाः पन्थानो मनोरथानाम्। खिलीभूतानि भूतिस्थानानि। स्थगितान्यानन्दस्य द्वाराणि। सुप्ता सत्यवादिता। लुप्ता लोकयात्रा। विलीना बाहुशालिता। प्रलीना प्रियालापिता। समाप्ता समरशौण्डता। ध्वस्ता परगुणप्रीतिः विश्रान्ता विश्वासभूमयः। अपवान्यपदानानि। निरुपयोगानि शास्त्राणि। कथावशेषा विशेषज्ञता। ददातु जनो जलाञ्जलिम् औजित्याय। प्रतिपद्यतां प्रव्रज्यां प्रजापालनता। बध्नातु वैधव्यवेणीं वरमनुष्यता। समाश्रयतु राजश्रीराश्रमपदम्। परिधत्तां धवले वाससी वसुमती। तपस्यतु तपोवनेषु तेजस्विता। क्व गम्यतां पुनस्तस्य कृते कृतज्ञतया। क्व पुनः प्राप्स्यति तादृशान् महापुरुषनिर्माणपरमाणून् परमेष्ठी। शून्याः संवृत्ता दशदिशोगुणानाम्। जगज्जातमन्धकारं धर्मस्य। निष्फलमधुना जन्म शस्त्रोपजीविनाम्। अपि नाम स्वप्नेऽपि दृश्येत दीर्घरक्तनयनं पुनस्तन्मुखसरोजम्? लोकान्तरेऽपि 'पुत्र' इत्यालपतः श्रूयते सा सुधारसमुद्गिरन्ती भारती?" इत्येतानि चान्यानि च चिन्तयत एवास्य कथमपि सा क्षयमियाय यामिनी।

श्रीहर्ष का पिता के लिए शोक

महाराज हर्ष भी, शोक प्रदर्शित करने के लिए आये हुये मानो एकत्रित समस्त संसार के समान अपार राजकुल से सम्बद्ध समस्त शोकाकुल मूक मानव समुदाय से घिरे हुए, आस्तरणरहित धरती पर बैठकर ही भीमरथी नामक कालरात्रि सी भयानक रात भर अन्य सामन्तों के साथ और जगते रहे। उनके मन में ये विचार आते रहे—

पिता के दूर होने पर (अवसान होने पर) यह समस्त संसार अब मानो इतना ही रह गया है अर्थात् छोटा हो गया है। लोगों की अभिलाषाओं के मार्ग खण्डित हो गये हैं। समृद्धि के स्थान ऊसर हो गये है। आनन्द के के द्वार वन्द हो गये हैं। सच्चाई सो गई है। लोगों की जीविका लुप्त हो गयी है। वीरता विलीन हो गई। प्रियभाषिता प्रलय को प्राप्त हो चुकी। युद्ध-दाक्षिण्य नष्ट हो गया। दूसरों के गुणों से प्रीति नष्ट हो चुकी। विश्वासपात्रता विलीन हो चुकी। सत्कर्म निराश्रय बन गए। शास्त्र निष्प्रयोजन हो गए। पांडित्य (विशेष ज्ञान) की कथा ही शेष रह गयी।

लोग शक्ति को अंतिम जलाञ्जलि दें। प्रजापालन धर्म अब सन्यास ले ले। महामानवता (विधवा हो जाने से) एक वेणी धारण करें। राज्यलक्ष्मी तपोवन में चली जाय। पृथ्वी अब श्वेत वस्त्र पहन ले। तेजस्विता तपोवनों में रहकर तपस्या करे। किन्तु अब परोपकार कहाँ जाय? ब्रह्मा अब ऐसे महापुरुषों के बनाने के हेतु परमाणु कहाँ से लायेंगे। गुणों के लिए तो दसों दिशायें शून्य हो गईं। धर्म के लिए तो सारा जगत् अन्धकारमय बन गया। वीरों का तो अब जन्म ही निरर्थक हो गया। क्या सपने में भी अब उस विशाल लाल नेत्रवाले मुखकमल का दर्शन होगा? जन्मान्तर में भी 'हे पुत्र' ऐसे उद्गार वाली, अमृतरस बहाने वाली वाणी सुनाई देगी। ऐसे और अन्य विचार करते हुए हर्षवर्धन की वह रात्रि बहुत दुःख से बीती।

कठिन शब्दों के अर्थ

जीवलोकलोके=मनुष्यलोक में।

निर्व्यवधानायाम्=आसनरहित-खुली-व्यवधानरहित (धरणी का विशेषण)

निशीथिनी =रात्रि

भीमरथीभीमाम्=भीमरथी की तरह भयानक। भीमरथी के बारे में एक पद्य है—सप्तसप्ततितमे वर्षे सप्तमे मासि सप्तमी रात्रिर्भीमरथी नाम नराणामति दुस्तरा॥ अर्थात्, सतहत्तरवें साल की सातवें मास की सातवीं रात्रि 'भीमरथी' कही जाती है अर्थात् उस कालरात्रि में मनुष्य की मृत्यु होती है उसको पार करलेने पर मनुष्य की आयु १०० साल की हो जाती है।

भूतिस्थानानि=समृद्धि के स्थान।

समरशौण्डता=युद्ध में नैपुण्य।

अपदानि =आश्रयरहित।

अपदानानि =अच्छे कर्म, सत्कर्म।

औजित्याय =शक्ति के लिये, वीरता के लिए।

परमाणून् =सूक्ष्म अणुओं को।

सुधारसम् =अमृतरस।

उद्गिरन्ती =बहाती हुई।

क्षयम् =समाप्ति।

यामिनी =रात्रि।

अनर्थ की परम्परा

प्रास्ताविकः—

महाकवि बाणभट्ट (ईस्वी ५७५-६५० लगभग) कन्नौज के वर्धन सम्राट् श्रीहर्ष के दरबार में थे। बाण ने 'कादम्बरी' और हर्षचरित' नामक दो गद्यकाव्य रचे हैं। इन दो गद्यकाव्यों के कारण बाण का नाम संस्कृत साहित्य में अमर हो गया है।

बाणभट्ट कादम्बरी कथा पूर्ण नहीं कर पाये थे। उनके पुत्र पुलिन या पुलिन्द भट्ट ने उसे पूर्ण किया। अलंकृत शैली वाली इस कादम्बरी (अर्थान्तर से मद्य) के नशे में सुज्ञ वाचक मानों मदमत्त बन जाते हैं। बाण की शैली में ओजगुण की ताजगी है और नैसर्गिकता की ऊष्मा है। मानव भावों का उनका चित्रण शुद्ध और सौन्दर्यपूर्ण तो है ही, वैदुष्यपूर्ण एवं मनोहारी भी है। इनके वर्णन अनंत वैविध्यों से पूर्ण हैं।

प्रस्तुत गद्यांश प्राज्ञ मंत्री शुकनास के द्वारा युवा कुमार चन्द्रापीड को दिये गये उपदेश का एक अंश है। अध्ययन व्रत पूर्ण करके चन्द्रापीड अभी-अभी युवराज पदारूढ़ हुआ है। जीवन की कठोरता का अनुभव उसमें नहीं है। इस उपदेश का वर्तमानकालिक सन्दर्भ में बड़ा महत्व है, क्योंकि युवकों के जीवन में मानो शुकनास के शब्द सजीव हो उठे हों। युवा पीढ़ी इससे महान् बोध ले सकती है।

अनर्थपरम्परा

गर्भेश्वरत्वमभिनवयौवनत्वमप्रतिमरूपत्वममानुष शक्तित्वं चेति महतीयं खल्वनर्थपरंपरा सर्वा। अविनयानामेकैकमप्येषामायतनम्, किमुत समवायः? यौवनारम्भे च प्रायः शास्त्रजलप्रक्षालननिर्मलापि कालुष्यमुपयाति बुद्धिः। अनुज्झितधवलतापि सरागैव भवति यूनां दृष्टिः। अपहरति च वात्येव शुष्कपत्रं समुद्भूतरजोभ्रान्तिरतिदूरमात्मेच्छयायौवनसमये पुरुषं प्रकृतिः। इन्द्रियहरिणहारिणी च सततदुरन्तेयमुपभोगमृगतृष्णिका। नवयौवनकषायितात्मनश्च सलिलानीव तान्येव विषयस्वरूपाण्यास्वाद्यमानानि मधुरतराण्यापतन्ति मनसः। नाशयति च दिङ्मोह इवोन्मार्गप्रवर्तकः पुरुषमत्यासङ्गो विषयेषु। भवादृशा एव भवन्ति भाजनान्युपदेशानाम्। अपगतमले हि मनसि स्फटिकमणाविव रजनिकरगभस्तयो विशन्ति सुखेनोपदेशगुणाः। गुरुवचनममलमपि सलिलमिव महदुपजनयति श्रवणस्थितं शूलमभव्यस्य। इतरस्य तु करिण इव शङ्खाभरणमानन-

अनर्थ परम्परा

जन्मजात ऐश्वर्य, नयी जवानी, अनुपम सौन्दर्य और मानवोत्तर शक्ति यह सब बहुत बड़ी अनर्थों की परम्परा है। इनमें से एक एक भी अनेक अविनयों का निवास स्थान है, फिर समुदाय की तो बात ही क्या ?

शास्त्र रूपी जल से धोये हुए होने के कारण निर्मल भी बुद्धि अक्सर जवानी के आते ही मलिन और कलुषित हो जाती है। युवकों की दृष्टि (नजर) धवलता को बिना छोड़े ही अनुरक्त वन जाती है। (वस्त्र आदि तो रक्त होने पर अपना सफेद गुण छोड़ देते हैं परन्तु युवकों की दृष्टि अनुरक्त (प्रेमपूर्ण) बनकर भी पूर्ववत् देखने में धवल बनी रहती है। जैसे रजोभ्रान्ति (धूल उड़ाकर दिग्भ्रम) पैदा करने वाला बवण्डर (आंधी) सूखे पत्तों को अपनी मर्जी के अनुसार दूर तक ऊपर उड़ाकर ले जाता है उसी तरह युवावस्था में रजोगुण सम्बन्धी विषय-वासना तथा विवेकभ्रम पैदा करने वाली प्रकृति मनुष्य को अपनी मर्जी से बहुत दूर ले जाती है। इन्द्रिय रूपी हरिणी को आकृष्ट करने वाली उपभोग की यह मृगतृष्णा हमेशा अपूर्ण और अनन्त बनी रहती है। जैसे कसैले पदार्थ (आंवला आदि) खाने के बाद पानी पीने पर पानी अधिक मधुर लगता है उसी तरह नयी जवानी के कारण कसैले स्वभाव वाले युवकों के मन को परिचित विषयों के उपभोग भी अधिक मधुर प्रतीत होते हैं। विषयों में अत्यन्त आसक्ति व्यक्ति को कुमार्गगामी बनाकर नष्ट कर देती है; ठीक उसी तरह जिस तरह कि दिशाभ्रान्ति पथिक को कुमार्ग पर ले जाती है और पथ-भ्रष्ट कर देती है।

आप जैसे व्यक्ति ही उपदेश के पात्र होते हैं। निर्मल स्फटिक मणि में जैसे चन्द्रमा की किरणें आसानी से प्रविष्ट हो जाती हैं उसी तरह निर्मल मन में उपदेश के गुण सुख के साथ प्रविष्ट होते हैं। निर्मल होने पर भी गुरुजनों का वचन पानी की तरह साधारण व्यक्ति के कानों में बहुत दुःख पैदा करता है। किन्तु वही भव्यजनों की मुखशोभा को वैसे ही अधिक बढ़ाने वाला होता है तथा उन्हें अच्छा लगता है जैसे कि हाथी के लिए शंख की माला। गुरूपदेश अत्यन्त मलिन अन्धकार की तरह सभी प्रकार के

शोभासमुदयमधिकतरमुपजनयति। हरन्यतिमलिनमन्धकारमिव दोषजातं प्रदोषसमयनिशाकर इव गुरूपदेशः। प्रशमहेतुर्वयःपरिणाम इव पलितरूपेण शिरसिजजालममलीकुर्वन् गुणरूपेण तदेव परिणमयति। अयमेव चानास्वादितविषयरसस्य ते काल उपदेशस्य। कुसुमशरशरप्रहारजर्जरिते हि हृदि जलमिव गलत्युपदिष्टम्। अकारणं च भवति दुष्प्रकृतेरन्वयः श्रुतं चाविनयस्य। चन्दनप्रभवो न दहति किमनलः? किं वा प्रशमनहेतुनापि न प्रचण्डतरीभवति वडवानलो वारिणा? गुरूपदेशश्च नाम पुरुषाणामखिलमलप्रक्षालनक्षमजलं स्नानम्, अनुपजातपलितादिवैरूप्यमजरं वृद्धत्वम्, अनारोपितमेवोदोषं गुरूकरणम्, असुवर्णविरचनमग्राम्यं कर्णाभरणम्, अतीतज्योतिरालोकः, नोद्वेगकरः प्रजागरः। विशेषेण राज्ञाम्। विरला हि तेषामुपदेष्टारः।

दोषों को प्रदोष कालीन चन्द्रमा की तरह दूर करता है। जैसे उम्र की परिपक्वता इन्द्रियों के प्रशमन का कारण वनती है और सिर के वालों को सफेद वनाकर पलित रूप में परिणत होती है उसी तरह गुरूपदेश व्यक्ति को निर्मल वनाकर गुणरूप में परिणत होता है । (गुरूपदेश से मस्तक के सारे भ्रम-जाल दूर हो जाते हैं और मस्तिष्क निर्मल गुणों में परिणत हो जाता है) विषय-वासना के रस के आस्वादन से तुम अभी अछूते हो, इसलिए यही समय (अवस्था) तुझे उपदेश देने के लिए उपयुक्त है। कामदेव के बाण के प्रहार से जर्जर हृदय में उपदेश उसी तरह नहीं ठहरता है जिस तरह फूटे हुए बर्तन में पानी नहीं ठहरता और वह जाता है। विषयी व्यक्ति की प्रकृति बिना कारण ही दुष्ट बन जाती है, जिसकी प्रकृति दुष्ट है उसका उत्तम कुल भी उसकी अच्छाई का कारण नहीं वनता । यहाँ तक कि दुष्प्रकृति के लिए अधीत शास्त्र भी अविनय (उद्दण्डता) का कारण बन जाता है । सुन्दर प्रकृति वालों के लिए ही विद्या विनय का कारण वनती है। चन्दन की रगड़ से उत्पन्न आग क्या जलाती नहीं है ? । अथवा जो पानी आग को शान्त करने (वुझाने) का कारण है, उससे भी वडवानल (समुद्र की आग) प्रचण्ड नहीं वनती है क्या ? (जो विद्या सत्प्रकृति के लिए विनय का कारण है, वही दुष्प्रकृति के लिए प्रचण्ड उद्दण्डता का कारण बन जाती है जैसे अन्यत्र आग को बुझाने का कारण पानी वडवानल की प्रचण्ड ज्वाला का कारण बनता है) गुरूपदेश तो पुरुषों के समस्त मैल और दोष को दूर करने वाला वह स्नान है, जिसमें जल की आवश्यकता नहीं होती । वह ऐसा वृद्धत्व है जिसमें केश की सफेदी चेहरे पर झुर्रियाँ आदि बुढ़ापे के दोष नहीं आते हैं, वह मोटापा दोष के बिना गुरुत्व प्रदान करने वाला है । यह वैसा कर्ण का आभूषण है जो सुवर्ण (श्रुति सुखद वर्णों (अक्षरों) से बना हुआ नहीं होता क्योंकि "हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः" प्रसिद्ध है तथा अन्य कर्णाभरण कुण्डल आदि जैसे सुवर्ण सोने से बने हुए होते हैं वैसा नहीं होता परन्तु सचमुच कर्णों के लिए आभूषण होता है । वह वैसा प्रकाश है जिसकी ज्योति कभी बुझती नहीं है। वह ऐसी जागृति है जो उद्वेग (दुःख) कारी नहीं है। खासकर राजाओं के लिए गुरुपदेश दुर्लभ होता हैं क्योंकि उनको उपदेश देने वाले बहुत कम लोग होते हैं।

शब्दार्थ

गर्भेश्वरत्वम्=जन्म से लेकर धनवान होना

अनर्थ =दोष, आपत्ति

आयतनम् =निवास, स्थान

समवाय =समूह

रजोभ्रान्ति=धूल की आँधी, रजोगुण के कारण समझ में उत्पन्न होने वाला भ्रम

आत्मेच्छया=अपनी ही इच्छा से

पुरुषः =मनुष्य, व्यक्ति, जीव

प्रकृतिः =स्वभाव, मूल अविद्या

गभस्तयः =प्रकाश, किरण

अभव्यः =स्वभाव की महत्ता से रहित, क्षुद्र

वयः परिणाम=वार्धक्य, वय के कारण आने काली प्रौढ़ता ढलती उम्र

गुणः =सूत्र, सत्त्वादि गुण

कुसुमशरः =पुष्पों के बाणों वाला कामदेव

अन्वयः =वंश, कुल परंपरा

विनयः =शिक्षा

वडवानल =समुद्र में उत्पन्न होने वाला अग्नि

पलितम् =वृद्धावस्था के कारण धवल हुए केश

गुरुकरणम्=गौरव प्रदान करने वाला

चंद्रापीड को शुकनास का उपदेश

संस्कृत साहित्य में बाण गद्य काव्य का स्वामी माना गया है। उसकी दो उत्तम कृतियाँ हैं (१) हर्ष चरित और (२) कादम्बरी। साहित्यिक परिभाषा में हर्षचरित आख्यायिका है और कादम्बरी कथा। आधुनिक परिभाषा में हर्षचरित है जीवनी और कादम्बरी है कल्पना-प्रधान ललित उपन्यास। दोनों ही गद्यकाव्य के उत्तम उदाहरण हैं।

संस्कृत गद्य काव्यों में कादम्बरी अप्रतिम कृति है। उत्तम काव्य गुण एवं चित्ताकर्षक लालित्य के लिए यह कृति प्रसिद्ध है। तथापि उसके दीर्घ कठिन समास, अपरिचित अनेकार्थ शब्द प्रयोग एवं प्राचीन पुरा-कथाओं के उल्लेखों के कारण साधारण पाठक के लिए यह बड़ी कठिन कृति सिद्ध हुई है। महामहोपाध्याय रायंपेट्टै श्रीकृष्णमाचार्य जी, अपर नाम अभिनव बाण भट्ट ने इस बृहत्काय ग्रन्थ का संक्षेप इस प्रकार किया है जिससे पाठक एवं छात्र मूल ग्रन्थ के दीर्घ समास तथा शब्दाडंबर युक्त वर्णनों से बचकर ग्रन्थ का रसास्वाद कर सकते हैं। इस संक्षेप का नाम हैं "कादम्बरी संग्रह।" प्रस्तुत गद्यांश कादम्बरी संग्रह से लिया गया है। इस संग्रह में कवि बाणभट्ट के शब्दों में ही कथा प्रस्तुत की गई है। आधुनिक पाठक की रुचि के अनुकूल अच्छे वर्णन ज्यों के त्यों रखे गए हैं।

कादम्बरी की कथा एक संकुल रचना है। वैशंपायन नामक एक तोते ने विदिशाधिप शूद्रक को यह कहानी सुनाई है। उसमें अवन्ती नरेश के पुत्र चन्द्रापीड और गन्धर्वराजकन्या कादम्बरी के प्रेमप्रसंग एवं मुनिश्वेतकेतु के पुत्र पुण्डरीक एवं महाश्वेता नामक एक अपर गन्धर्वराज कन्या के प्रेम प्रसंग का रोचक वर्णन है।

चन्द्रापीड के यौवराज्याभिषेक के अवसर पर विदग्ध राजमंत्री शुकनास ने चन्द्रापीड को उपदेश दिया वह इस गद्यांश में संगृहीत है। यौवन के आकर्षण दुर्निवार होते हैं। वैभव के दोषों से भी बचना है। इसलिए मन को बहकावों से रोकने के लिए यह उपदेश दिया गया है साथ साथ चन्द्रापीड को दिग्विजय यात्रा करके विरोधी राजाओं को वश में लाना है, इसके लिए अपेक्षित गुणों का रोचक ढंग से कथन इस उपदेश की विशेषता है। चन्द्रापीड बड़े सम्मान के साथ उपदेश ग्रहण करता है।

चन्द्रापीडाय शुकनासस्योपदेशः

"तदेवंप्राये राज्यतन्त्रेऽस्मिन् महामोहकारिणि च यौवने, तथा प्रयतेथाः यथा नोपहस्यसे जनैः, न निन्द्यसे साधुभिः, न धिक्क्रियसे गुरुभिः, नोपालभ्यसे सुहृद्भिः, न शोच्यसे विद्वद्भिः, यथा च न प्रहस्यसे विटैः, न प्रतार्यसे कुशलैः, नावलुप्यसे सेवकवृकैः, न प्रलोभ्यसे वनिताभिः, नापह्रियसे सुखेन। कामं भवान् प्रकृत्यैव धीरः, पित्रा च महाप्रयत्नेन समारोपितसंकारः। तरलहृदयमप्रतिबुद्धं च मदयन्ति धनानि। तथापि भवद्गुणसंतोषो मामेवं मुखरीकृतवान्। इदमेव च पुनः पुनरभिधीयसे—विद्वांसमपि सचेतनमपि महासत्त्वमप्यभिजातमपि धीरमपि प्रयत्नवन्तमपि पुरुषमियं दुर्विनीता खलीकरोति लक्ष्मीरिति। सर्वथा कल्याणैः पित्राक्रियमाणमनुभवतु भवान्यौवराज्याभिषेकमङ्गलम्। कुलक्रमागतामुद्वह पूर्वपुरुषरूढां धुरम्। अवनमय द्विषतां शिरांसि। उन्नमय बन्धुवर्गम्। अभिषेकानन्तरं च प्रारब्धदिग्विजयः परिभ्रमन्विजितामपि तव पित्रा

चन्द्रापीड को शुकनास का उपदेश

तो इस प्रकार के (कुटिलता से भरे हुए) इस राज्यतंत्र में और अतिशय मोह पैदा करने वाली युवावस्था में (सावधान रहने के लिए) हे कुमार ! तुम्हें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे कि लोग तुम्हारी हँसी न उड़ायें, सज्जन तुम्हारी निन्दा न करें, धर्माचार्य (गुरु) तुम्हें धिक्कार योग्य न समझें, मित्रों के द्वारा तुम्हें डाँट डपट (उपालम्भ) न मिले, पंडित जन तुझे शोचनीय न समझें, (दुष्ट आचरण करने वाले) विटजनों के द्वारा तुम उपहास के पात्र न बनो, चालाक (मक्कार) आदमी तुम्हें ठग न लें, सेवक रूपी भेड़िए तोड़ न खायें, प्रमदायें तुम्हें प्रलोभित न करें, सुख से तुम अपहृत न हो जाओ। सुखोपभोग में पड़कर तुम अपने कर्तव्य को भूल न जाओ।

वैसे तो तुम स्वभावतः धीर हो और पिता तारापीड ने बड़े प्रयत्न से तुम्हारे विनयन संस्कार किए हैं) तुझे पढ़ाया है। चञ्चल हृदय वाले असावधान आदमी को ही धन पागल बनाता है। फिर भी तुम्हारे गुणों से प्राप्त सन्तोष ने मुझे इस प्रकार से बोलने के लिए प्रेरित किया है। (तेरे गुण और बढ़ें और दृढ़ बनें यह सोचकर मैं यह उपदेश दे रहा हूँ।)

यही बात बार बार तुझे कहनी है कि यह दुर्विनीत और उद्धत लक्ष्मी विद्वान जागरूक, बलिष्ठ, कुलीन, धीर और कुप्रभाव से बचने का प्रयत्न करने वाले पुरुष को भी सन्मार्ग से भ्रष्ट कर देती है। सभी प्रकार के कल्याणों से युक्त, पिता से विहित यौवराज्याभिषेक के मंगल का तुम अनुभव करो। पुरुखों के द्वारा सम्हाली हुई कुल परम्परा से प्राप्त और पूर्वजों से निभाए हुए राज्यभार को सम्भालो, दुश्मनों के सिरों को झुका दो। बन्धु बान्धवों को ऊँचा उठाओ। राज्याभिषेक के बाद दिग्विजय प्रारंभ करके पिता के द्वारा जीती हुई होने पर भी सात द्वीप वाली

सप्तद्वीपभूषणां पुनर्विजयस्व वसुन्धराम्। अयं च ते कालः प्रतापमारोपयितुम्। आरूढप्रतापो हि राजा त्रैलोक्यदर्शीव सिद्धादेशोभवति" इत्येतावदभिधायोपशशाम।

उपशान्तवचसि शुकनासे चन्द्रापीडस्ताभिरमलाभिरुपदेशवाग्भिः प्रक्षालित इवोन्मीलित इव पवित्रीकृत इवोल्लासित इव प्रीतहृदयो मुहूर्तं स्थित्वा स्वभवनमाजगाम।

पृथ्वी पर फिर से विजय प्राप्त करो। तेरे लिए यही समय अन्य राजाओं पर प्रताप फैलाने का है।

प्रतापी राजा त्रिकालदर्शी योगी की तरह सिद्धादेश होता है जैसे त्रिका लदर्शी योगी का आदेश व्यर्थ नहीं जाता वैसे ही प्रतापी राजा की आज्ञा सत्य होती है। इतना कहकर (शुकनास अमात्य) मौन हो गया।

जब मन्त्री ने बोलना बंद किया तो शुकनास के उन उपदेश वाक्यों से ऐसा लगता था मानो चंद्रापीड अपने आपको प्रक्षालित, खुली दृष्टि-वाला, पवित्र-सा तथा आनन्दित अनुभव करता हो। इस तरह प्रसन्न मन से क्षण भर वहाँ रहकर वह अपने भवन में आ गया।

शब्दार्थ

महामोहकारिणि—चित्त में अतिशय मोह उपजाने वाला। यौवन का विशेषण है। सप्तमी एकवचन।

प्रतार्यसे—ठगे जाते हो (कर्मवाच्य)

अवलुप्यसे—मिटा दिये जाओ (त्वं कर्मपद है। कर्मवाच्य।)

सेवक वृकैः—सेवक रूपी भेड़ियों के द्वारा।

महासत्त्वम्—बलिष्ठ को, शक्तिशाली को

अभिजातम्—कुलीन को, (द्वितीया एकवचन)।

तृतीयो भागः

नाटक मन्दाकिनी

प्रतिमागृह में भरत

प्रस्तावना :

संस्कृत साहित्य में ई. सन् १९०९ तक भास का केवल नाम ही सुना जाता था । किन्तु त्रिवेन्द्रम् के म. म. पं. गणपति शास्त्री ने १३ (तेरह) संस्कृत नाटक प्राप्त किए और बताया कि ये नाटक भास रचित हैं। इन तेरह संस्कृत नाटकों में दो नाटक उदयन कथा पर आधारित हैं, दो रामायण की कथा पर, छ नाटक महाभारतकथा पर, एक कृष्ण कथा पर तथा दो लोककथा पर आधारित हैं। रामायण को कथा पर अवलम्बित दो नाटक हैं—(१) प्रतिमानाटकम् और

(२) अभिषेकनाटकम् ।

यहाँ उद्धृत प्रसंग 'प्रतिमानाटक' के तीसरे अङ्क से लिया गया है। इस घटना का सम्बन्ध रामायण के अयोध्याकाण्ड एवं अरण्यकाण्ड के कुछ करुण प्रसंगों से है। जिस चातुरी एवं कलात्मकता से भास ने रामायण से विषयवस्तु उठाकर हमारे समक्ष नाटक के स्वरूप में उपस्थित किया है वह भास की ही अपनी अनूठी विशेषता है ।

इस नाटक की भाषा सरल है, फिर भी प्रसंगवश कभी-कभी वह कवित्वमय ऊँची उड़ानें भी भरती हैं ।

इस नाटक का प्रधान लक्ष्य राम की पित्राज्ञापालनवृत्ति दिखाना है। राम अपने पिता दशरथ की आज्ञा का बड़े उत्साह से पालन करते हैं। इस नाटक का गौण लक्ष्य दशरथ, सीता एवं भरत के अभिजात गुणों का दर्शन कराना है। यह भी सुचारु रूप से दिखाया गया है कि दशरथादि कितने दृढ़ एवं अनन्य प्रेम से राम को चाहते हैं ।

यहाँ निर्दिष्ट प्रसंग में प्रतिमा का दृश्य दिखाकर नाट्यकार भास ने नवीन उद्भावित कलात्मक रीति से दशरथ की मृत्यु एवं राम के चौदह वर्ष के वनवास को सूचन किया है ।

प्रतिमागृहे भरतः

[प्रविश्य]

देवकुलिकः—भोः, नैत्यकावसाने प्राणिधर्ममनुतिष्ठति मयि को नु खल्वय-
मासां प्रतिमानामल्पान्तराकृतिरिव प्रतिमागृहं प्रविष्टः। भवतु,
प्रविश्य ज्ञास्ये।

[प्रविशति]

भरतः— नमोऽस्तु।

देवकुलिकः—न खलु न खलु प्रणामः कार्यः।

भरतः— मा तावद् भोः,

वक्तव्यं किंचिदस्मासु विशिष्टः प्रतिपाल्यते।
किंकृतः प्रतिषेधोऽयं नियमप्रभविष्णुता॥

देवकुलिकः—न खल्वेतैः कारणैः प्रतिषेधयामि भवन्तम्। किंतु दैवतशङ्कया
ब्राह्मणजनस्य प्रणामं परिहरामि। क्षत्रिया ह्यत्रभवन्तः।

भरतः— एवम्। क्षत्रिया ह्यत्रभवन्तः। अथ के नामात्रभवन्तः?

देवकुलिकः—इक्ष्वाकवः।

भरतः— [सहर्षम्] इक्ष्वाकव इति एते तेऽयोध्याभर्तारः।

प्रतिमागृह में भरत

(प्रवेश करके)

देवकुलिक—मैं जबकि नित्य की पूजाविधि समेटकर भोजन कर रहा हूं। इतने में अरे यह कौन सचमुच इन प्रतिमाओं से आकार में थोड़ा-सा ही भिन्न प्रतिमागृह में गया है ? ठीक है, जाकर जान लूंगा।

(प्रवेश करता है)

भरत —मैं नमस्कार करता हूं। (प्रतिमा को नमस्कार करता है)

देवकुलिक—नहीं नहीं, प्रणाम मत करना।

भरत —ओह ! क्यों मुझे रोकते हो ?
क्या मुझसे कुछ गलती हो गई है ? या कोई विशिष्ट प्रकार के शिष्टाचार का पालन मुझसे यहां अपेक्षित है ? या आपकी धर्म के बारे में श्रेष्ठता अथवा दम्भ मुझे ऐसा करने से रोकता है ? क्यों मुझे (प्रणाम करने से) रोकते हो ?

देवकुलिक—इन कारणों से मैं आपको (प्रणाम करने से) नहीं रोकता हूं, किन्तु ये देवता की प्रतिमाएँ हैं, ऐसा समझकर ब्राह्मण प्रणाम करता है (यह ठीक नहीं) अतः मैं रोक रहा हूं। ये (सब) क्षत्रिय महानुभाव हैं।

भरत —ऐसा ! ये क्षत्रिय महानुभाव हैं तो ये कौन (महानुभाव) हैं ?

देवकुलिक—ये इक्ष्वाकु वंश के राजा हैं।

भरत —(हर्ष के साथ) ये इक्ष्वाकु राजा हैं। ये वे अयोध्या के राजा नृपति हैं।

एते ते देवतानामसुरपुरवधे गच्छन्त्याभिसरो-
मेते ते शक्रलोके सपुरजनपदा यान्ति स्वसुकृतैः ।

एते ते प्राप्नुवन्तः स्वभुजबलजितां कृत्स्नां वसुमतो-
मेते ते मृत्युना ये चिरमनवसिताश्छन्दं मृगयता ॥

भोः, यदृच्छया खलु मया महत् फलमासादितम् । अभिधीयतां कस्तावदत्रभवान् ?

देवकुलिकः—अयं खलु तावत् संनिहितसर्वरत्नस्य विश्वजितो यज्ञस्य प्रवर्तयिता प्रज्वलितधर्मप्रदीपो दिलीपः ।

भरतः— नमोऽस्तु धर्मपरायणाय । अभिधीयतां कस्तावदत्र भवान् ।

देवकुलिकः—अयं खलु तावत् संवेशनोत्थापनयोरनेकब्राह्मणजनसहस्र-प्रयुक्तपुण्याहशब्दरवो रघुः ।

भरतः— अहो बलवान् मृत्युरेतामपि रक्षामतिक्रान्तः । नमोऽस्तु ब्राह्मण-जनावेदितराज्यफलाय । अभिधीयतां कस्तावदत्रभवान् ।

देवकुलिकः—अयं खलु तावत् प्रियावियोगनिर्वेदपरित्यक्त राज्यभारो नित्यावभृथस्नानप्रशान्तरजा अजः ।

भरतः— नमोऽस्तु श्लाघनीयपश्चात्तापाय । [दशरथस्य प्रतिमामवलोक-यन् पर्याकुलो भूत्वा ।] भोः बहुमानव्याक्षिप्तेन मनसा सुव्यक्तं नावधारितम् । अभिधीयतां कस्तावदत्रभवान् ?

ये वे अयोध्या के राजा हैं जो असुरों के संहारार्थ, देवों की सहायता में अग्रसर होकर जाया करते हैं । ये वे हैं जो अपने पौरजानपदों के साथ इन्द्रलोक में जाते है। अपने बाहुओं के बल से जो सारी पृथ्वी को वशवर्ती बना लेते हैं और ये वे राजा हैं जिनकी इच्छा की राह देखते हुए मृत्यु को भी चिरकाल तक प्रतीक्षा करनी पड़ी और इच्छा के विना मौत भी जिनको मार नहीं सकी। ओह यह तो अकस्मात् ही मुझे महान लाभ हुआ। कहो तो ये (राजा) कौन हैं ?

देवकुलिक—देव राजा दिलीप हैं जिन्होंने यज्ञ के लिए सभी प्रकार को उत्तम सामग्री का संग्रह किया था और जिन्होंने धर्म का दीप जलाया था और जिन्होंने विश्वजित यज्ञ किया था।

भरत —इन धर्मपरायण राजा (दिलीप) को मेरा नमस्कार । अब बताओ ये कौन हैं ?

देवकुलिक—यह रघुराजा है जिसके सोते समय एवं उठने के समय अनेक सहस्र ब्राह्मण स्वस्तिपुण्याहवाचन किया करते थे।

भरत —मृत्यु सचमुच शक्तिशाली है जो इस प्रकार (के सत्कर्मों) को सुरक्षा को भी लांघ गयी। मैं इन्हें प्रणाम करता हूं जिनके राजा होने का फल ब्राह्मणों के समूहों ने बता दिया है। अब कहो ये राजा कौन हैं ?

देवकुलिक—ये राजा अज हैं जिन्होंने प्रिया (पत्नी इन्दुमती) के मरणजन्य विरह से राज्य को छोड़ दिया था और जो नित्य यज्ञान्त के अवभृथस्नान के द्वारा आसक्तिरहित बन गये थे।

भरत —जिनका पश्चात्ताप प्रशंसा के योग्य था उस (महाराज अज) को मेरा प्रणाम। (दशरथ की प्रतिमा को देखकर विह्वल-सा) अरे इन व्यक्तियों के प्रति अत्यधिक सम्मान की भावना के कारण मैंने तुम्हारी बात ठीक से नहीं ग्रहण की। तो कहो ये (राजा) कौन हैं ?

देवकुलिकः—अयं दिलीपः ।

भरतः— पितृपितामहो महाराजस्य । ततस्ततः ।

देवकुलिकः—अत्रभवान् रघुः ।

भरतः— पितामहो महाराजस्य । ततस्ततः ।

देवकुलिकः—अत्रभवानजः ।

भरतः— पिता तातस्य । किमिति किमिति ।

देवकुलिकः—अयं दिलीपः, अयं रघुः, अयमजः ।

भरतः—भवन्तं किंचित् पृच्छामि । धरमाणानामपि प्रतिमाः स्थाप्यन्ते ?

देवकुलिकः—न खलु, अतिक्रान्तानामेव ।

भरतः— तेन ह्यापृच्छे भवन्तम् ।

देवकुलिकः—तिष्ठ ।

येन प्राणांश्च राज्यं च स्त्रीशुल्कार्थे विसर्जिताः ।
इमां दशरथस्य त्वं प्रतिमां किं न पृच्छसे ।।

भरतः— हा तात ! [मूर्छितः पतति । पुनः प्रत्यागत्य]

देवकुलिकः—आर्येति इक्ष्वाकुकुलालापः खल्वयम् । कच्चित् कैकेयीपुत्रो भरतो भवान् ननु ?

भरतः— अथ किम् । अथ किम् । दशरथपुत्रो भरतोऽस्मि न कैकेय्याः ।

देवकुलिकः—तेन ह्यापृच्छे भवन्तम् ।

भरतः—तिष्ठ । शेषमभिधीयताम् ।

देवकुलिकः—का गतिः । श्रूयताम् । उपरतस्तत्रभवान् दशरथः । सीता-लक्ष्मणसहायस्य रामस्य वनगमनप्रयोजनं न जाने ।

भरतः— कथं कथम् । आर्योऽपि वनं गतः । [द्विगुणं मोहमुपगतः ।]

[प्रतिमानाटकम्]

देवकुलिक—ये दिलीप हैं।

भरत —महाराज (पिता दशरथ) के परदादा (प्रपितामह)। फिर ?

देवकुलिक —ये पूज्यरघुराज हैं।

भरत महाराज दशरथ के पितामह। आगे आगे—

देवकुलिक—ये पूज्य अज हैं।

भरत —पिताजी के पिता। क्या ? क्या कहते हो ?

देवकुलिक—ये दिलीप हैं, ये रघु हैं और ये अज है।

भरत —तुम्हें कुछ पूछता हूं। जीवित राजाओं की भी प्रतिमाएँ स्थापित की जाती हैं ?

देवकुलिक—नहीं नहीं, केवल दिवंगत जनों की।

भरत —तो मैं अनुज्ञा लेता हूं (जाता हूं)।

देवकुलिक—ठहरो।

तुम दशरथ की इस प्रतिमा के बारे में क्यों कुछ नहीं पूछते जिन्होंने स्त्री शुल्क को निभाने के लिए (कैकयी को दिये गये वचन के पालन के लिए) अपने प्राण एवं राज्य को छोड़ा ? !

भरत —हाय ! पिताजी ! (मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है किन्तु फिर से होश में आकर)

देवकुलिक—इसने 'आर्य' ऐसा सम्बोधन किया है। यह तो इक्ष्वाकु वंश का सम्बोधन है। क्या तुम कैकेयी के बेटे भरत तो नहीं ?

भरत —हाँ, हाँ, मैं भरत हूं किन्तु दशरथ का पुत्र, भरत हूं न कि कैकेयी का।

देवकुलिक—मुझे जाने की आज्ञा दीजिए।

भरत —जरा ठहरो, और कुछ शेष समाचार कहो।

देवकुलिक—(क्या चारा है कहना ही पड़ेगा) ? सुनो। पूज्य दशरथ दिवंगत हो गए। किन्तु मैं सीता एवं लक्ष्मण के साथ राम के वनगमन का कारण नहीं जानता।

भरत —क्या क्या ! पूज्य राम भी वन में गए। (दुगुने मोह को (दुःख को) प्राप्त हुआ)।

कठिन शब्दों के अर्थ

प्रतिमागृह =प्रतिमाओं के लिए बनाया हुआ घर।

प्रतिषेधयामि =मैं रोकता हूँ।

स्वसुकृतैः =अपने सत्कर्मों से।

कृत्स्नाम् =सम्पूर्ण।

यदृच्छया =आकस्मिक रूप से।

अभिधीयताम्=कहिए।

प्रज्वलितः =प्रदीप्त किया हुआ।

धर्मप्रदीपः =धर्म का दीपक।

धरमाणानाम्=जीवित व्यक्तियों का।

स्थाप्यन्ते =स्थापित की जाती हैं।

अतिक्रान्तानाम्=मृतजनों की।

उदयन का स्वप्न

यह उद्धरण महाकवि भास के नाटक 'स्वप्नवासवदत्तम् स लिया गया है। सन १९०९ में जब कि म. म. टी. गणपति शास्त्री ने भास के तेरह नाटकों की शोध की तब तक प्रशिष्ट (श्रेण्य) संस्कृत साहित्य में भास केवल नामतः ही परिचित था। भास के रूपक (१) महाभारताश्रित (२) भागवताश्रित, (३) रामायणाश्रित, (४) उदयन कथाश्रित एवं (५) लोककथाश्रित ऐसे पांच समूहों में प्राप्त हैं।

कालिदास ने अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्रम्' की प्रस्तावना में भास को प्रथितयशस् कहा है। भास के ईसा पूर्व ३००-२५० में होने की मान्यता सामान्यतः स्वीकृत हो चुकी है।

भास के तेरह नाटकों में स्वप्नवासवदत्तम् सर्वश्रेष्ठ और अतिप्रसिद्ध नाटक है। इस रूपक में राजा उदयन के अपनी वासवदत्ता के प्रति असीम प्रेम का वर्णन है। वासवदत्ता की कृतक मृत्यु के कारण उदयन असह्य पीडा भुगतता है। यह एक मनोवैज्ञानिक नाटक है जिसमें कवि की कला पूर्ण योजना से उदयन, वासवदत्ता पद्मावती एवं यौगन्धरायण के अन्तर मन के भावों का सुन्दर एवं काव्यात्मक चित्रण मिलता है। राजा उदयन के वत्सराज्य का कुछ हिस्सा शत्रु ने हड़प लिया हैं। यौगन्धरायण मंत्री सेना सहायता प्राप्त करने के लिए उदयन का विवाह मगध नरेश दर्शक की भगिनी पद्मावती से कराने की योजना बनाता है। इस योजना की सिद्धि के लिए वह महल में आग लगने का कृतक प्रंसग उपस्थित करता है। जिसमें वासवदत्ता को जल जाने की कृतक घोषणा करता है। यह सब वासवदत्ता की अनुमति से ही किया गया है।

यौगन्धरायण की इस योजना से नाटय वस्तु में संकुलतायें उत्पन्न होती हैं। वस्तु इस प्रकार विकसित होता है जिसमें वासवदत्ता का गाढ प्रेम एवं वियोग दुःख तथा वासवदत्ता के लिए उदयन का अटल प्रेम व्यक्त होता है।

प्रस्तुत परिच्छेद विख्यात स्वप्न दृश्य का है जिसमें कवि यौगन्धरायण की योजना को पूर्ण करने के लिए स्वेच्छया वियोगिनी बनी हुई वासवदत्ता को उचित अन्तर पर रख कर भावपूर्ण सन्तोष प्राप्त करती हुई दिखाया है। पूरी नाटय वस्तु को यौगन्धरायण की रहस्यमय योजना ने नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया है।

उदयनस्य-स्वप्नः

[ततः प्रविशति वासवदत्ता आवन्तिकावेषेण, चेटी च ।]

चेटी —एत्वेत्वार्या । दृढं खलु भर्तृदारिका शीर्षवेदनया दुःखिता ।

वासवदत्ता—हा धिक्, कुत्र शयनीयं रचितं पद्मावत्याः ।

चेटी —समुद्रगृहके किल शय्यास्तीर्णा ।

वासवदत्ता—तेन ह्यग्रतो याहि ।

[उभे परिक्रामतः]

चेटी —इदं समुद्रगृहकम् । प्रविशत्वार्या । यावदहमपि शीर्षानुलेपनं त्वरयामि । [निष्क्रान्ता ।]

वासवदत्ता—अहो, अकरुणाः खल्वीश्वरा मे । विरहपर्युत्सुकस्यार्यपुत्रस्य विश्रामस्थानभूतेयमपि नाम पद्मावत्यस्वस्था जाता । यावत् प्रविशामि । [प्रविश्यावलोक्य] अहो परिजनस्य प्रमादः । अस्वस्थां पद्मावतीं केवलं दीपसहायां कृत्वा परित्यजति । इयं पद्मावत्यवसुप्ता । यावदुपविशामि । [उपविश्य] अथवान्यासनपरिग्रहेणाल्प इव स्नेहः प्रतिभाति । तदस्यां शय्यायामुपविशामि । किं नु खल्वेतया सहोपविशन्त्या अद्य प्रह्लादितमिव मे हृदयम् । दिष्ट्याविच्छिन्नसुखनिःश्वासा । निवृत्तरोगया भवितव्यम् । अथवैकदेशसंविभागतया शयनीयस्य सूचयति मामालिङ्गेति । यावच्छयिष्ये ।

[शयनं नाटयति ।]

उदयन का स्वप्न

(अब आवन्तिका के वेशपरिधान में वासवदत्ता तथा चेटी का प्रवेश)

चेटी —आइये आर्या आइये, राजकुमारी माथा दुखने से परेशान है।

वासवदत्ता—अरेरे, कहाँ सेज रची है पद्मावती की ?

चेटी —सेज समुद्रगृह में रची है।

वासवदत्ता—तो आगे चलो।

(दोनों परिक्रमण करती हैं)

चेटी —यह है समुद्रगृह, आर्या प्रवेश करें। इतने में मैं भी मस्तक का लेप लेकर सत्वर आती हूँ। (जाती है)

वासवदत्ता—अहो ईश्वर मुझपर कितना निर्दय है। विरहव्याकुल स्वामी (उदयन) का विश्राम-स्थान रूप यह पद्मावती भी अस्वस्थ हुई। चलो, अंदर जाऊँ। (प्रवेश करके देखकर) अहो सेवक वर्ग का कितना प्रमाद (लापरवाही) है ! अस्वस्थ पद्मावती को केवल दीप के सहारे छोड़कर सब चले गये ! यह पद्मावती सोयी हुई है। तो मैं बैठती हूँ। (बैठकर) यदि दूसरे आसन पर बैठूंगी तो मेरा स्नेह अल्प है ऐसा प्रतीत होगा। इस लिये इसी शय्या पर बैठती हूँ। इसके साथ बैठने से आज मेरा हृदय अत्यन्त आनन्दित-सा हो गया है ? सद्भाग्य से इसका श्वासोच्छ्वास अटूट (सतत) और सुख पूर्वक चल रहा है। इससे लगता है कि इसका रोग दूर हो गया है। अथवा तो शय्या का एक भाग रिक्त है वह मानों इंगित करता है, कि मेरा आलिंगन करो।' ठीक है, सोती हूँ।

(सोने का अभिनय करती है।)

राजा —[स्वप्नायते] हा वासवदत्ते ।

वासवदत्ता—[सहसोत्थाय] हम्, आर्यपुत्रः न खलु पद्मावती । किं नु खलु दृश्यास्मि । महान् खल्वार्ययौगन्धरायणस्य प्रतिज्ञाभारो मम दर्शनेन निष्फलः संवृत्तः ।

राजा —हा अवन्तिराजपुत्रि ।

वासवदत्ता—दिष्ट्या स्वप्नायते खल्वार्यपुत्रः नात्र कश्चिज्जनः । यावन्मुहूर्तकं स्थित्वा दृष्टिं हृदयं च तोषयामि ।

राजा —हा प्रिये, हा प्रियशिष्ये, देहि मे प्रतिवचनम् ।

वासवदत्ता—आलपामि भर्तः, आलपामि ।

राजा —किं कुपितासि ?

वासवदत्ता—न हि न हि, दुःखितास्मि ।

राजा —यद्यकुपिता, किमर्थं नालंकृतासि ?

वासवदत्ता—इतः परं किम् ।

राजा —किं विरचिकां स्मरसि ।

वासवदत्ता—[सरोषम्] आ अपेहि, इहापि विरचिका ।

राजा —तेन हि विरचिकार्थे भवतीं प्रसादयामि । [हस्तौ प्रसारयति]

वासवदत्ता—चिरं स्थितास्मि । कोऽपि मां पश्येत् । तद् गमिष्यामि । अथवा, शय्याप्रलम्बितमार्यपुत्रस्य हस्तं शयनीय आरोप्य गमिष्यामि ।

[तथा कृत्वा निष्क्रान्ता ।]

राजा —[सहसोत्थाय] वासवदत्ते, तिष्ठ तिष्ठ ।। हा धिक् ।

निष्क्रामन् संभ्रमेणाहं द्वारपक्षेण ताडितः ।
ततो व्यक्तं न जानामि भूतार्थोऽयं मनोरथः ।।

राजा —(स्वप्न में बोलता है) हा वासवदत्ते !

वासवदत्ता—(एकदम उठकर) ऐं ! ये तो आर्यपुत्र हैं ! पद्मावती नहीं ! क्या मैं उनसे देखी गयी ? आर्य यौगंधरायण की प्रतिज्ञा का महत्त्व मेरे दर्शन से निष्फल हो गया ।

राजा —अयि अवन्ति राजपुत्री !

वासवदत्ता—यह सौभाग्य है कि आर्यपुत्र स्वप्न में हैं । यहाँ कोई मनुष्य भी नहीं है । तो कुछ क्षण तक ठहरकर मैं आँख और हृदय को संतुष्ट कर लेती हूँ ।

राजा —हा प्रिये, प्रिय शिष्ये, मुझे उत्तर दो ।

वासवदत्ता—बोल रही हूँ, स्वामी, बोल रही हूँ ।

राजा —क्या मुझसे कुपित हो ?

वासवदत्ता—ना, ना, मैं दुःखी हूँ कुपित नहीं हूँ ।

राजा —यदि कुपित नहीं हों तो अलंकारों से अलंकृत क्यों नहीं हो ।

वासवदत्ता—इससे आगे क्या (कहें) ?

राजा —क्या विरचिका को याद करके नाराज हो ।

वासवदत्ता—(रोष से) अरे हटो । यहां भी विरचिका ?

राजा —तो विरचिका प्रसंग के कारण तुम्हें मनाता हूँ । (हाथ फैलाता है ।)

वासवदत्ता—बहुत समय से यहाँ ठहरी हूँ । कदाचित् कोई मुझे देख ले । इसलिये जाऊँगीं । अथवा आर्यपुत्र का हाथ शय्या से लटक रहा है उसे शय्या पर ठीक से रखकर जाऊँगी ।

(उस प्रकार करके जाती है ।)

राजा —(एकदम उठकर) ठहरो, वासवदत्ता ठहरो ।अरेरे जल्दी जल्दी बाहर की ओर निकलता हुआ मैं दरवाजे के किवाड़ से ठकरा गया इसलिये ठीक ठीक नहीं कह सकता कि यह सच है या केवल मन की इच्छा ।

गणदास और हरदत्त का विवाद

कालिदास सर्वसम्मत रूप से प्रशिष्ट (श्रेण्य) संस्कृत साहित्य का उत्तम कवि है। उसकी सर्वोच्च काव्यशक्ति के कारण उसे कविकुल गुरु का महनीय पद प्राप्त हुआ है। उसकी अप्रतिम काव्यकला के कारण उसका अमर यश विश्वभर में व्याप्त है। पाश्चात्य विद्वान भी उसके काव्यों की भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं।

किन्तु विधि की यह वक्रता है कि ऐसे महान् कवि के जीवन, स्थान एवं समय के विषय में कोई विश्वसनीय ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त नहीं है। परम्परानुसार वह उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य की सभा में था। किन्तु उसके आश्रय विक्रमादित्य की सही पहचान के विषय में विद्वानों की सर्वसम्मति नहीं है। बहुत से विद्वानों का इंगित है कि उस विक्रमादित्य और है जिसने ईसा पूर्व ५७ में अपने नाम से संवत्सर चलाया था। अतः कालिदास ई० पू० प्रथम शती में था ऐसा एक मत है।

कुछ अन्य विद्वान जो गुप्तयुगवाली मान्यता के समर्थक हैं उनके मतानुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। उसने ३५७ ई० सं० से ४१३ ई० स० तक शासन किया था। अतः कालिदास इन दो कालखण्डों के बीच कहीं हुआ। उसका कोई निश्चित समय निर्धारित करना शक्य नहीं है।

सभी विद्वान इस विषय में तो सहमत हैं कि निम्न सात रचनायें कालिदास की ही लेखिनी से प्रसूत हैं तीन नाटक (१) मालविकाग्निमित्र, (२) विक्रमोर्वशीय, (३) अभिज्ञान शाकुन्तल, दो महाकाव्य—(१) कुमार सम्भव (२) रघुवंश; एक गीत खण्डकाव्य मेघदूत, एक वर्णन काव्य ऋतुसंहार। उसके काव्यों में गूढ़ मानव भावों का मार्मिक परिचय देखने को मिलता है। कालिदास सूक्ष्म सुन्दर भावों को निपुणता से शब्दबद्ध करता है। उसकी शैली मधुर एवं मनोहारिणी है।

प्रस्तुत अंश में विद्वान नृत्याचार्यों के बीच विवाद उनकी आपस में ईर्षा, रानी धारिणी का स्त्री सहज मानस विदूषक एवं पंडिता कौशिकी की बातें प्रेक्षक के चित्त को प्रभावित करती हैं। अध्यापन कला के विषय में भी अनुभवपूर्ण बात यहाँ प्रस्तुत है।

गणदास-हरदत्तयोर्विवादः

राजा —भगवति ! अत्र भवतो हरदत्तगणदासयोः परस्परं विज्ञान-संघर्षो जातः तदत्र भगवत्या प्राश्निकपदमध्यासितव्यम् ।

परिव्राजिका—(सस्मितम्) अलमुपालम्भेन । पत्तने विद्यमानेऽपि ग्रामे रत्नपरीक्षा ।

राजा —मा मैवम् । पण्डितकौशिको खलु भगवती । पक्षपातिनावनयो-रहं च देवी च ।

आचार्यौ —सम्यगाह देवः । मध्यस्था भगवती नौ गुणदोषतः परिच्छेत्तु-मर्हति ।

राजा —तेन हि प्रस्तूयतां विवादः ।

परि० —देव प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम् । किमत्र वाग्व्यवहारेण । कथं वा देवी मन्यते ।

देवी —यदि मां पृच्छसि, एतयोर्विवाद एव न मे रोचते ।

गणदासः —न मां देवी समानविद्यातः परिभवनीयमनुमन्तुमर्हसि ।

विदूषकः —भवति ! द्रक्ष्याम उरभ्रसंपातम् । किं मुधा वेतनदानेन ।

देवी —ननु कलहप्रियोऽसि ।

विदूषकः —मा तावत् । अन्योन्यकलहितयो मत्तहस्तिनोरेकतरस्मिन्ननि-र्जिते कुत उपशमः ।

गणदास एवं हरदत्त के बीच विवाद

राजा —भगवति ! पूज्य हरदत्त एवं गणदास के बीच शास्त्र विषयक विवाद उत्पन्न हुआ है। अतः इसमें आपको निर्णायक पद ग्रहण करना है।

परिव्राजिका—(स्मित के साथ) मज़ाक मत कीजिए। शहर के रहते हुए गाँव में रत्न की परीक्षा होती है कहीं ?

राजा —ऐसी बात नहीं। आप तो पंडिता कौशिकी हैं। हम और देवी धारिणी तो इन दोनों (हरदत्त एवं गणदास) के पक्षपाती हैं।

दोनों आचार्य—महाराज ठीक ही कहते हैं। आप तटस्थ हैं और हमारे गुण दोषों की परख करने में सर्वथा योग्य हैं।

राजा —तो फिर शास्त्रवाद शुरू किया जाय।

कौशिकी —महाराज ! नाट्यशास्त्र में प्रयोग ही मुख्य है। वाणी के द्वारा (नाट्य सिद्धान्त की) चर्चा करने से कोई लाभ नहीं। इस विषय में देवी धारिणी की क्या राय है ?

देवी —यदि आप मेरा मत पूछती हैं तो मुझे तो इन दोनों का विवाद ही पसंद नहीं है।

गणदास —समान विद्यावाले प्रतिस्पर्धी से मेरा पराभव होगा यह आपका अनुमान ठीक नहीं।

विदूषक —देवि ! मेषयुद्ध देखने को मिलेगा। व्यर्थ दोनों को तनख्वाह देने से क्या फायदा ?

रानी —तुम्हें तो कलह प्रिय है।

विदूषक —ऐसा न कहें। परस्पर लड़ते हुए दो हाथियों में से जब तक एक पराजित नहीं होता तब तक युद्ध कैसे शान्त होगा ?

राजा —ननु स्वाङ्गसौष्ठवाभिनयमुभयोर्दृष्टवती भगवती ।

परि० —अथ किम् ।

राजा —तदानीमतः परं किमाभ्यां प्रत्याययितव्यम् ।

परि० —तदेव वक्तुकामास्मि ।

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था
संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता ।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां
धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ।।

विदूषकः —श्रुतं भगवत्या वचनमार्याभ्याम् । एष पिण्डितार्थं उपदेश-दर्शनेन निर्णय इति ।

हरदत्तः —परमरुचितं नः ।

गणदासः —देवि ! एवं स्थितम् ।

देवी —यदा पुनर्मन्दमेधा शिष्योपदेशं मलिनयति आचार्यस्य दोषो नु ।

राजा —देवि ! एवमुपपद्यते ।

गणदासः —विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धि लाघवं प्रकाशयति ।

देवी —(स्वगतम्) कथमिदानीम् । (गणदासं विलोक्य जनान्तिकम्) अलमार्यपुत्रस्योत्साहकारणं मनोरथं पूरयित्वा । (प्रकाशम्) विरम निरर्तकादारम्भात् ।

विदूषकः —सुष्ठु भवती भणति । भो गणदास संगीतापदेशेन सरस्वत्युपायनमोदकानि खादतः किं ते सुलभनिग्रहेण विवादेन ।

राजा —आपने तो दोनों का अंग सौष्ठव पूर्वक अभिनय देखा ही है।

परिव्राजिका—हां देख तो लिया है।

राजा —तब फिर इन दोनों को और क्या प्रतीति (परीक्षा) देनी चाहिए ?

परिव्राजिका—यही तो मैं कहना चाहती हूँ।
किसी को प्रायोगिक ज्ञान में नैपुण्य प्राप्त होता है तो किसी दूसरे को क्रिया समझाने में। किन्तु जिसकी ये दोनों बातें अच्छी हों वही शिक्षक समाज में अग्रस्थान का अधिकारी है।

विदूषक —आप दोनों ने (हरदत्त एवं गणदास को लक्ष्य करके) भगवती कौशिकी का वचन सुन लिया। फलितार्थ यही है कि शिक्षण के प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर ही निर्णय दिया जाएगा।

हरदत्त —यह हमें अत्यंत अभिमत है।

गणदास —देवि ! यह ठीक निर्णय हुआ।

देवी —यदि अल्पबुद्धिवाली शिष्या उपदेश को यथावत् ग्रहण कर सके और प्रयोग न कर सकने के कारण उपदेश को मलिन करे तो क्या वह शिक्षक का दोष है ?

राजा —देवी यह ठीक है।

गणदास —अयोग्य को शिष्य बनाना भी शिक्षक की अल्पबुद्धि का परिचायक हैं।

देवी —(अपने आपसे) यह क्या ? (गणदास की ओर देखकर उसे एक तरफ ले जाकर) आर्यपुत्र का मनोरथ, जिसके कारण उनको यह उत्साह हुआ है, सफल मत होने दो। (जोर से) निरर्थक कार्य से दूर रहो।

विदूषक —देवी ठीक कहती है। जिसमें हार है ऐसी स्पर्धा से क्या प्रयोजन है ? तुम संगीत के बहाने सरस्वती देवी को अर्पित प्रसाद के लड्डू खाने वाले हो। तुम्हें, जिसमें पराजय निश्चित है ऐसे विवाद से क्या लाभ ?

गणदासः —सत्यमयमेवार्थो देवीवचनस्य । श्रूयतामवसरप्राप्तमिदम्—

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरो-
स्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम् ।
यस्यागमः केवलजीविकायै
तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ॥

देवी —अचिरोपनीता ते शिष्या । तदपरिनिष्ठितस्योपदेशस्यान्याय्यं प्रदर्शनम् ।

गणदासः —अत एव मे निबन्धः ।

देवी —तेन हि द्वावपि भगवत्या उपदेशं दर्शयतम् ।

परि० —देवि ! नैतद् न्याय्यम् । सर्वज्ञस्याप्येकाकिनो निर्णयाभ्युपगमो दोषाय ।

देवी —(आत्मगतम्) मुग्धे किं मां जाग्रतीमपि सुप्तामिव करोषि । (इति सासूयं परावर्तते ।)

गणदास —सचमुच देवी के कहने का यही अर्थ है तो इस अवसर के अनुरूप यह बात सुनो—

स्थान मिल गया है ऐसा सोचकर जो विवाद से डरता है, दूसरों से की गई निन्दा को सहन करता है एवं जिसका ज्ञान केवल जीविकोपार्जन के लिए ही है उसको तो लोग ज्ञान बेचने वाला वनिया कहते हैं।

देवी —हाल ही में तुम्हारी शिष्या तुम्हारे पास पढ़ने आई है। अपरिपक्व शिष्या की विद्या का प्रदर्शन करना न्याय संगत नहीं है।

गणदास —इसीलिए तो मेरा आग्रह है।

देवी —तो आप दोनों (गणदास एवं हरदत्त) भगवती कौशिकी के सामने आपकी कला का प्रदर्शन करें।

परिव्राजिका—देवि ! यह न्यायोचित न होगा। जानकार होते हुए भी एक व्यक्ति का निर्णय दोषरूप बन सकता है।

देवी —(अपने आपसे) मूर्ख ! मुझ जागती हुई को तुम सोती सी समझती है ? (इस प्रकार ईर्ष्या के साथ मुख पीछे छुपा लेती हैं।

चन्दनदास

कवि विशाखदत्त का मुद्राराक्षस एक ऐतिहासिक नाटक है। नाटक की कथावस्तु है चन्द्रगुप्त मौर्य की चाणक्य की सहायता से राज्यप्राप्ति। नन्दों का राजभक्त कुशल राजनीतिपटु मंत्री राक्षस ब्राह्मण था। चन्द्रगुप्त का वह प्रवल प्रतिपक्षी था। चाणक्य उसे चन्द्रगुप्त के पक्ष में जीत लेना चाहता है। यह कार्य वह राक्षस की अंगुलीयक मुद्रा से जो उसे एक गुप्तचर द्वारा मिली थी, सिद्ध करता है। नाटक का शीर्षक 'मुद्रा राक्षसम्' अर्थात मुद्रा के द्वारा राक्षस को अनुकूल कर लिया (पकड़ लिया) इस अर्थ में सार्थक है।

चाणक्य और चन्दनदास के बीच संवाद का यह परिच्छद नाटक के प्रथम अंक से लिया गया है। मणिकार श्रेष्ठी चन्दनदास राक्षसमंत्री का अभिन्न मित्र है। राक्षस ने पाटलीपुत्र छोड़ने से पूर्व अपना परिवार चन्दनदास के यहाँ रखा है। इसी के घर से गुप्तचर को राक्षस की मुद्रा मिली थी। संवाद में चन्दनदास का सुहृत् प्रेम व्यक्त होता है।

नाटककार विशाखदत्त गुप्तसम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के समकालीन थे। अतः चतुर्थशती का अन्तिम चरण और पंचमशती का पूर्वार्ध विशाखदत्त का समय माना जा सकता है।

चाणक्यः —परिक्लेशः कथं भवतीति प्रष्टव्या वयम् ।

चन्दनदासः—आज्ञापयतु आर्यः ।

चाणक्यः —संक्षेपतो राजनि अविरुद्धाभिर्वृत्तिभिः ।

चन्दनदासः—आर्य, कः पुनरधन्यो राज्ञा विरुद्ध्य आर्येणावगम्यते ।

चाणक्यः —भवानेव तावत्प्रथमम् ।

चन्दनदासः—(कर्णौ पिधाय) शान्तं पापम् शान्तं पापम् । कीदृशस्तृणानामग्निना सह विरोधः ।

चाणक्यः —अयमीदृशो विरोधः । यत्त्वमद्यापि राजापथ्यकारिणोऽमात्यराक्षसस्य गृहजनं स्वगृहमभिनीय रक्षसि ।

चन्दनदासः—आर्य, अलीकमेतत्, केनाप्यनभिज्ञेन आर्यस्य निवेदितम् ।

चाणक्यः —भोः श्रेष्ठिन् अलमाशङ्कया । भीताः पूर्वराजपुरुषाः पौराणामनिच्छतामपि गृहेषु गृहजनं निक्षिप्य वेशान्तरं व्रजन्ति । ततस्तत्प्रच्छादनं दोषमुत्पादयति ।

चन्दनदासः—एवं त्विदम् । तस्मिन् समये आसीदस्मद्गृहे अमात्यराक्षसस्य गृहजन इति ।

चाणक्य —ओ श्रेष्ठी ! क्लेशरहित स्थिति कैसे प्राप्त होती है, इस विषय में तुम्हें हमें पूछना चाहिए।

चंदनदास —आप बताइए (कि वह कैसे प्राप्त होती है)

चाणक्य —संक्षेप में (कहा जाए तो) राजा के प्रति अविरोधी व्यवहार करने से।

चंदनदास —आर्य ! ऐसा कौन अभागा है जिसे आप राजा के विरुद्ध व्यवहार करने वाला मानते हैं।

चाणक्य =(ऐसे व्यक्तियों में) सर्वप्रथम आप ही है।

चंदनदास —(कानों को बंद करके) पाप शान्त हो, पाप शान्त हो। तिनकों का आग के साथ विरोध कैसा ?

चाणक्य —यह ऐसा विरोध कि तुम आज भी राजा के अहित करने वाले अमात्य राक्षस के परिवार को अपने घर में छिपाकर रखे हुए हो।

चंदनदास —आर्य, यह बिलकुल झूठ है। किसी अनजान ने आपसे यह बात बताई है।

चाणक्य —हे श्रेष्ठी ! डरो नहीं। भूतपूर्व राजा के भयभीत सेवक लोग नगरवासियों की इच्छा न होते भी अपने कुटुम्ब के सदस्यों को उनके घरों में रखकर दूसरे देश में चले जाते हैं। (इससे वे दोषी नहीं माने जाते)। परन्तु उन्हें छुपाकर रखना अपराध बनता है।

चंदनदास —यह बिलकुल ठीक है। उस समय अमात्य राक्षस का परिवार मेरे घर में था।

चाणक्यः —पूर्वमनृतमिदानीमासीदिति परस्परविरोधिनी वचने।

चन्दनदासः—एतावदेवास्ति मे वाक्छलम्।

चाणक्यः —भोः श्रेष्ठिन्, चन्द्रगुप्ते राजन्यपरिग्रहश्छलानाम्। तत्समर्पय गृहजनम्। अच्छलं भवतु भवतः।

चन्दनदासः—आर्य, ननु विज्ञापयामि तस्मिन्समये आसीदस्मद्गृहे अमात्य-राक्षसस्य गृहजन इति।

चाणक्यः —अथेदानीं क्व गतः।

चन्दनदासः—न जानामि।

चाणक्यः —(स्मितं कृत्वा) कथं न ज्ञायते नाम। भो श्रेष्ठिन्, शिरसि भयमतिदूरे तत्प्रतीकारः।

चन्दनदासः—आर्य, किं मे भयं दर्शयसि। सन्तमपि गेहेऽमात्यराक्षसस्य गृहजनं न समर्पयामि किं पुनरसन्तम्।

चाणक्यः —चन्दनदास, एष ते निश्चयः।

चन्दनदासः—बाढम्। एष मे निश्चयः।

चाणक्यः —(स्वगतम्) साधु चन्दनदास साधु। (प्रकाशम्) चन्दनदास एष ते निश्चयः।

चन्दनदासः—बाढम्।

चाणक्यः —(सक्रोधम्) दुरात्मन्, दुष्टवणिक्, अनुसूयतां तर्हि नरपति-क्रोधः।

चन्दनदासः—(सज्जोऽस्मि। अनुतिष्ठत्वार्य आत्मनोऽधिकारसदृशम्।

चाणक्य —पहले (यह बात) झूठ है और अब (था) ये दो वाक्य परस्पर विरोधी हैं।

चंदनदास —इतना ही केवल वाणी का (मेरे बोलने में) कपट है। यह केवल विरोधाभास है।

चाणक्य —ओ श्रेष्ठी ! चन्द्रगुप्त के राज्य में छलकपट नहीं चल सकता। इसलिए अमात्य राक्षस के परिवार को सौंप दो और निश्छल बन जाओ।

चंदनदास —आर्य ! मैं आपसे निवेदन कर चुका हूँ कि अमात्य राक्षस का परिवार उस समय मेरे घर में था।

चाणक्य —तो अब वह कहाँ गया ?

चदनदास —मैं नहीं जानता।

चाणक्य —(सस्मित) श्रेष्ठी ! जानते कैसे नहीं ? आपको मालुम होना चाहिए भय आपके सिर पर है और उसका प्रतीकार बहुत दूर है।

चंदनदास —आर्य ! क्यों आप मुझे भय दिखाते हैं ? अमात्य राक्षस का कुटुम्ब मेरे घर में होता तो भी मैं उसे आपको समर्पित नहीं करता फिर उसके (कुटुम्ब के) न होने पर तो (समर्पण की) बात ही क्या है ?

चाणक्य —चन्दनदास ! यह तेरा निश्चय है ?

चंदनदास —हाँ, यह मेरा निश्चय है ?

चाणक्य —(स्वगत) धन्य चन्दनदास धन्य हो तुम। (जोर से) चन्दनदास ! यह तुम्हारा निश्चय है ?

चंदनदास —हाँ।

चाणक्य —(क्रोध के साथ) ओ दुरात्मा ! दुष्ट वणिक् ! तो राजा के क्रोध का फल भोगो।

चंदनदास —यंह मैं (दंड के लिए) तैयार हूँ। आप अपने अधिकार के अनुरूप जो भी करना है कीजिए।

चाणक्यः —शार्ङ्गरव, उच्यतामस्मद्वचनात्कालपाशिको दण्डपाशिकश्च शीघ्रमयं दुष्टवणिक्, निगृह्यताम् । अथवा तिष्ठतु । उच्यतां दुर्गपालो विजयपालः । गृहीतसारमेनं सपुत्रकलत्रं संयम्य तावद्रक्ष यावन्मया वृषलाय कथ्यते वृषल एवास्य प्राणहरं दण्डमाज्ञापयिष्यति ।

शिष्यः —यदाज्ञापयत्युपाध्यायः । श्रेष्ठिन्, इत इतः ।

चन्दनदासः—(स्वगतम्) आर्य, अयमागच्छामि ।...दिष्ट्या मित्रकार्येण मे विनाशो न पुरुषदोषेण । (परिक्रम्य शिष्येण सह निष्क्रान्तः)

चाणक्यः —(सहर्षम्) हन्त लब्ध इदानीं राक्षसः । कुतः ।

त्यजत्यप्रियवत्प्राणान्यथा तस्यायमापदि ।
तथैवास्यापदि प्राणा नूनं तस्यापि न प्रियाः ॥

(मुद्राराक्षसम्)

चाणक्य —शार्ङ्गरव ! मेरी आज्ञा से कालपाशिक और दंडपाशिक को कहो कि जल्दी से इस दुष्ट बनिए को कैद कर ले। अथवा जरा ठहरो, किला के रक्षक विजयपाल को कहो—कि चन्दनदास का धन छीनकर उसे पत्नी पुत्र के साथ बाँधकर कारागार में तब तक रखे जब तक मैं वृषल (चन्द्र गुप्त) को इसके बारे में अवगत करूँ। वह खुद ही उसे मृत्युदंड देगा।

शिष्य —जैसी आपकी आज्ञा। श्रेष्ठी ! इस ओर (चलो) इस ओर।

चंदनदास —(स्वगत) आर्य यह मैं आया। सद्भाग्य से मित्र के हेतु अथवा मित्र के काम के लिए मुझे प्राणदण्ड मिल रहा है किसी अन्य अपने दोष से नहीं।

(घूमकर शिष्य के साथ चला जाता है।)

चाणक्य —(हर्ष के साथ) अहा हा ! राक्षस अब मेरे वश में आ गया। यह चन्दनदास उस राक्षस की आपत्ति में अपने प्राणों को जैसे अप्रिय वस्तु की तरह छोड़ने को तैयार है उसी तरह उस राक्षस को भी चन्दनदास की आपत्ति में अपने प्राण प्रिय न होंगे।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	६	भ्येत्थ	भ्येत्य
२०	९	वचसि	वयसि
२०	१३	धम	धर्मः
२४	१५	प्रतिभू	प्रतिभूः
२४	१७	आवसथ	आवसथः
२५	१६	उयादेयता	उपादेयता
२६	५	चांडाल	चाण्डाल
२८	६	निर्व्याण	निर्व्याज
२८	८	मव	मम
३१	८	लेखिकी	लेखनी
३२	४	ब्राह्म	ब्राह्मे
३२	११	—	पूर्त्तये ॥५॥
३३	१२	न	—
३४	१४	थास	घास
३७	२०	वाधा	बाधा
४७	७	कोड़ी	कौड़ी
५४	I	श्चो,	श्चों
५४	३	बाल्मीकि	वाल्मीकि
५४	४	आर्य भट्टच	आर्यभट्टश्च
५७	७	तुम्हारावन	तुम्हारा वन
५८	१०	षट् दर्शनप्रवक्तारः	षड् दर्शन प्रवक्तारः
६३	८	ओर ने	ओर से

६७	१४	देती है	देती हैं
७४	I	विविदन्ते	विवदन्ते
७४	१८	विवादमनयो	विवदमानयो
७८	I	लङ्घयति	लङ्घयन्ति ।
९६	I	हरन्यति	हरत्यति
९८	१७	वडवानल	वडवानलः
१२९	१०	परिच्छद	परिच्छेद
१३०	I	चाणक्यः	चन्दनदासः
१३१	I	,,	,,